प्रभास की सीपियाँ

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

प्रवीण प्रकाशन
नई दिल्ली–110030

अपने 'भैया' स्व. ठाकुर शिवकुमार सिंह को
जिनके सान्निध्य की ऊष्मा में सदैव भींगता रहा।
जिनसे सीता–सी ममता, राम–सा भ्रातृत्व और कृष्ण–सी मैत्री पायी।
वे सिद्ध कर सके कि ठिंगनी देह में
सिमटे सच्चे संकल्पों की ऊँचाई के सामने,
अगणित हिमालय भी बौने होते हैं।
वे अपने नाम के अनुरूप जीवन–भर
गरल पीकर अमृत ही बांटते रहे।
इस अमृत पुरुष की अमर स्मृति को,
सूनी और भरी आंखों के साथ,

क्रम

भरोसे पर

असावधान ही रहना

ग्रीष्म की देहलीज़ से

सड़क पर सोयाबीन और रहीम

प्रेम नहीं है तिथिप्रेम

अनुराग, विराग

साधु कौन ?

ड्राइंग रूम की कारा

परिधि क्या हो ? सुख की दुःख की

किसी के जाने पर किसी के आने पर

काँवरिए

प्रभास की सीपियाँ

मणिकर्णिका की शहनाई

तुम नहीं आए

'भैया'

चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ

खुल गई छतरियाँ

तीसरा पाँव

खजुराहो बड़ो उजारो गेह

कला, एक मुखर मौन

एक छोटा सा ब्रेक

भरोसे पर

नए बीस निबंध आपको फिर सौंप रहा हूँ। ये निबंध ऐसे समय में लिखे गए हैं जब निजी तौर पर मैं बड़े मानसिक तनाव से गुज़रा। हमेशा वह नहीं होता जिसके सपने संजो लिए जाते हैं। यदि वही होता जो सोचते हैं तो कोई फर्क नहीं होता आँखों के बंद और खुले रहने में। मगर नतीजा तो यही निकाल पाया हूँ कि सपने संजोने चाहिए। सपना होता है तो फिर उस सपने में सिमटे काल्पनिक सच को कहीं यथार्थ में बदलते देखने की आकांक्षा बनी रहती है। आकांक्षी मन निरन्तर प्रेरित करता है करने को। फिर यह आकांक्षा किसी प्रयोजन के लिए हो तो क़लम की प्राणशक्ति बढ़ती जाती है।

मुझसे बार–बार अनेक तरह के सवाल किए जाते रहे हैं। मैं ऐसा गद्य क्यों लिखता हूँ जो ललित भी होता है, वैचारिक भी, उपदेशात्मक और कलात्मक भी। इसका क्या अवदान है ?

मैं कोई अवदान दूं यह न तो मेरी महत्त्वाकांक्षा हैं न ही सामर्थ्य मेरे विचार से ऐसे भ्रम भी नहीं पालने चाहिए। आप लिखें और उसमें से कुछ ग्रहण करने लायक समझ लिया जाए, यही उपलब्धि है। यदि ग्रहण न भी हो मगर वह कहीं आंदोलित कर दे मन–मानस को तो यह भी किसी लेखक की पूंजी ही है। यह समय ऐसा नहीं है कि लिखने से मन बदल जाते हों, समाज की बुनावट में बदलाव आता हो या हमारे नियति–नियामक उससे कुछ प्रेरित भी होते हों। यह दौर संवेदनहीनता और संवादहीनता का है। यह ज़रूर है कि इनके नाम पर बहुत कुछ प्रायोजित तौर पर आयोजित हो जाता है। लिखने वालों के ध्येय कुछ और हो गए हैं। समारोहप्रियता बढ़ी है, संस्कृति, साहित्य और कला के नाम पर बहुत कुछ ऐसा होने लगा है जिसके कोई फल नहीं मिलते। प्रदर्शन ज़्यादा हैं लेकिन साहित्य और संस्कृति के अनुभवों की प्रतीति बेहद कम। देखते–देखते सदी–की–सदी बीत गई मग़र इस गुज़री सदी के अन्त में जो कुछ उपलब्धि के रूप में आया है, उसमें से कुछेक अपवादों को छोड़कर उसे ऐसी विरासत नहीं मान सकते जो इक्कीसवीं सदी को पूरे आत्मविश्वास के साथ सौंपे जाने योग्य हो। यह सच है और मिजाज़ के मुताबिक कड़वा ही है। हरेक लेखक की अपनी मानसिकता होती है, अपने मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता भी और अपने परिवेश का दबाव भी। वह जिस समाजके बीच रहता है उसी के अनुभव उसकी लेखनी से जन्मते हैं। यह उम्मीद नहीं की जानी चाहिए कि जो लिखा जाएगा उसकी परिणति कहीं लेखक को समाज में अलग प्रतिष्ठित कर देगी। दुःखद तथ्य यह है कि आज का रचनाकार बात तो अपने समय की करता है लेकिन एवज में वह समाज से प्रतिदान चाहता है। समाज सच्चा ग्राहक भर है और इसका यह क़तई मतलब नहीं कि लेखक दूकानदार हो जाएँ लेखक और समाज के बीच का संबंध यही है कि दोनों के बीच मोलभाव न हो। समाज से मोलभाव करना जितना बुरा है, उससे कहीं ज्यादा बुरा यह है कि उसके नाम पर मोलभाव किया जाने लगे। लेखक और दूकानदार के बीच मुद्रा के विनिमय होने और न होने का फर्क है। ऐसे परिदृश्य में यह

विचारणीय हो जाता है कि जब लिखने का कोई प्रतिफल नहीं निकलना तो फिर लेखन क्यों ? इसलिए कि लेखक एक जाग्रत समाज की क्रियाशीलता का सच्चा प्रतिमान है। जाग्रत समाज सच्चे लेखक को सोने नहीं देता। लेखक का यही जागरण पूरी तरह न सही लेकिन बड़े रूप में समाज को कहीं बदलता भी आया है। इसलिए आज न सही, कल, कल न सही परसों, सार्थक और समर्पित रूप से लिखने के जरूर परिणाम सामने आएँगे, यह आशावाद जिंदा रहना ज़रूरी है। यह आशावाद जरूर ज़िंदा रह पाएगा यदि अपने–अपने घेरे से रचनाकार निकलेगा और उन अनुशासनों से भी जुड़ने की कोशिश करेगा जो अनुशासन अपने आपमें विकसित हो रहे हैं लेकिन जिनका कोई जुड़ाव दूसरे अनुशासनों से न होने के कारण समाज की बुनावट में आते जा रहे परिवर्तन को समग्रता में नहीं देखा जा पा रहा है। अनुशासनों में आपसी वैचारिक विनिमय का अभाव है। हर अनुशासन का, विधा का अपना दर्शन और अपने विचार होते हैं जिनमें पारस्परिक विनिमय होना चाहिए।

अंग्रेज़ी में इन दिनों एक शब्द बड़ा प्रचलन में हैं 'माइक्रो लेवल एक्जामिनेशन', मतलब सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अध्ययन। यह अध्ययन और विश्लेषण ज़रूरी है मगर तब, जबकि उसे पहले संपूर्णता में देख लिया जाए जिसका सूक्ष्मतम स्तर पर परीक्षण किया जाना है। ऐसा नहीं होता। खण्ड–खण्ड में, सूक्ष्म–से–सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूप में देखने की वृत्ति का स्वरूप तब तक एकांगी होगा जब तक कि धरातल पर संपूर्णता में उसे न निहार लिया जाए, जिसकी तहों की सूक्ष्मतम खोज की जानी है। खण्ड में देखने की आदत ने दृष्टि को अखण्डित नहीं रहने दिया है। समाज और संस्कृति के धरातल के नीचे जो अन्तर्धाराएँ हैं उनका साक्षात् तभी हो पाएगा जब समाज और संस्कृति के धरातल पर बिछी मिट्टी की पहचान हो, इस मिट्टी के कई स्वरूप हैं। कहीं वह काली है, कहीं पथरीली, कहीं पीली, कहीं सूखी, कहीं नम। उसका स्वभाव जाने बिना यह साक्षात् संभव नहीं। मिट्टी के यही स्वरूप अनुशासन हैं जिनसे संवाद ज़रूरी है, जिनकी पहचान ज़रूरी है, जिनका आपसी जुड़ाव ज़रूरी है।

आज के लेखक के दायित्व ज्यादा गंभीर हैं। उसे अध्ययनशील होना पड़ेगा, घूमना पड़ेगा, विभिन्न विधाओं, अनुशासनों और सरोकारों से जुड़े लोगों से बातें करनी होंगी, अपने विधागत लेखन की बारीकी और राजनीति से चिपके न रहकर अपना अहं त्यागकर यह जोखिम भी उठानी होगी कि उसकी पहचान खो जाए, या वह निशाना भी बने उन लोगों का जो अपना वर्चस्व सिर्फ अपनी तिकड़म के बल पर कायम रखना चाहते हैं। जिनकी पहचान आज खोई जान पड़ती है उनकी पहचान आगे आने वाले समय में सदैव के लिए स्थापित भी हो जाती है। लेखक के जीने की पहचान न तो उसकी उम्र से हो सकती है, न ग्रन्थों की बड़ी संख्या से। उसकी पहचान तब होती है जब सांसों के बंजारे देह के अस्थायी ठौर को छोड़कर, अगले सफ़र के लिए निकल पड़ते हैं। देह के बसेरे को स्थायी मानकर उसे सजाना, संवारना और यह उम्मीद करना कि उसी के कारण वह समादृत होगा, पूजनीय हो जाएगा, शाश्वत साहित्यकार के रूप में स्थापित हो जाएगा, लेखक को उसके मूल दायित्व से काट देता है। यह आत्ममुग्धता समर्पित लेखन की पहचान नहीं है।

इन दिनों ऐसे आत्ममुग्ध, स्वनामधन्य, आयोजनधर्मियों की भारी भीड़ है। रास्ते पटे पड़े हैं। सुनता हूँ केरल में श्रीफल के वृक्ष अब ज़्यादा उगाए जा रहे हैं और शाल–निर्माताओं के पास रेशम कम पड़ने लगा है। यह सच, यह साबित करता है कि कहीं लेखन के प्रवाह की दिशा वह नहीं है जो अपेक्षित है। लेखन हो रहा है, निरन्तर हो रहा है, नए–नए प्रकाशन–गृह खुल रहे हैं, दृश्य माध्यम के विस्फोटक फैलाव के बावजूद हर विधा में बहुत पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं लेकिन यह सवाल अपनी जगह अडिग खड़ा है कि क्यों इनकी ग्राह्यता में कमी का अनुभव हो रहा है? हिन्दी के सजग पाठक क्यों इन सारी पुस्तकों को लेकर गंभीर नहीं हैं ? इसका सीधा उत्तर यही है कि मात्रात्मक स्तर पर प्रकाशन की बहुलता गुणात्मकता को कम कर रही है और इसलिए कि जो लिखा जा रहा है वह समाज के नाम पर लिखा जा रहा है, उसके भीतर से वह उपजा हुआ नहीं है। विचारों ने बाना ओढ़ रखा है अनुभव के पुतले पर, जो घड़ा गया है, जीवन्त नहीं है। प्राणवान अनुभवों की अभिव्यक्ति उस विचार में नहीं हो रही जो धरती के भीतर से उगता है। अनुभव लेने का, उनसे एकात्म होने का धीरज छूट जाने की वज़ह से यह स्थिति निर्मित हुई है। कुछेक अपवादों को छोड़कर, प्रतिष्ठा प्रतीक के रूप में लोग लिख रहे हैं या निरर्थक बहसें कर रहे हैं। यह सच अपनी जगह पूरी शिद्दत के साथ मौजूद है कि आज का ज़्यादातर लेखन अपना निजी लेखन है। इस निजस्व से समष्टिगत जुड़ाव नहीं हो सकता। आज लोक और परलोक दोनों की दुहाई देने वाले जाने कितने झंडाबरदार मौजूद हैं लेकिन ये सब सिर्फ अपने लिए अपनी दुहाई भर देते हैं, न समाज कुछ लेते हैं और न उसे कुछ ऐसा देते हैं जिससे वह विकसित हो।

यह कथन उपदेश की तरह लग सकता है लेकिन जो अनुभव हो वह किसी तरह तो व्यक्त हो ? उपदेशक कह दिया जाने के भय से जो सोचूं, अनुभव करूँ, उसे व्यक्त न करूँ तो इससे बड़ी बेईमानी कोई दूसरी नहीं होगी।

मैंने मन से कोशिश की है कि निबंध के माध्यम से लोकसाहित्य से, ललितकलाओं, विशेषकर मध्यकालीन चित्रकला के विभिन्न आयामों से जुडूं, साहित्य की दीगर विधाओं में जो लिखा जा रहा है उसे पढूँ, तमाम तरह के विद्वानों और उन लोगों से बातें करूँ जिनका सान्निध्य कहीं समृद्ध करता है।

इस संग्रह के निबंध अपने अनुभवों के रूपायन हैं। इस संग्रह में तीन निबंध ख़ास तौर पर गौरतलब हैं, एक कला के बारे में, दूसरा खजुराहो पर और तीसरा 'भैया' पर। इनमें कहीं आपको एक अनुशासन से होकर दूसरे अनुशासन में जाने का यत्न मिलेगा। कला के बारे में मैंने अपनी दृष्टि से विचार रखे हैं, एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में इसके बारे में अपनी बात कही है। खजुराहो की मंदिर सरणी को बने हज़ार बरस पूरे हुए, पूरा देश सहस्राब्दि समारोह मना रहा है, मैंने चेष्टा की है कि इस अद्‌भुत् शिल्प को विस्तृत फलक पर देखूँ। एक निबंध स्व. ठाकुर शिवकुमार सिंह पर है। इसे सहज ही व्यक्ति चित्र कहा जा सकता है लेकिन मैं इसे ललित निबंध ही मानता हूँ क्योंकि यदि किसी व्यक्तित्व में गहरी व्यंजना की प्रतीति हो तो फिर वहाँ व्यक्ति रहता नहीं, वह व्यंजक हो जाता है। गहरी व्यंजना की सामर्थ्य देने की क्षमता यदि

किसी व्यक्तित्व में हो और उस पर लिखा जाए तो फिर वह निबंध न रेखाचित्र होता है, न व्यक्ति व्यंजक निबंध, वह ललित निबंध ही होता है क्योंकि वह अपने स्व को निस्सीम बनाकर उसे समाज को निखारने के लिए लगा देता है। ऐसे विरल लोग अब देखने, सुनने को भी नहीं मिलते।

निबंध जैसी विधा में लिखने के अपने अनुभव हैं। यह विधा अभी भी हिन्दी के उस भव्य प्रासाद के बाहर खड़ी होकर कुतूहल से उस जगमग को निहार रही है, जिसमें कविता, कहानी और उपन्यास जैसे महान देवी–देवता प्रतिष्ठित हैं। वे प्रतिष्ठित रहें यह कामना तो हरेक की होगी, लेकिन द्वार पर खड़े किसी स्वाभिमानी को कम–से–कम यह सम्मान तो देना चाहिए कि वह उस प्रासाद में झाँक तो ले। यदि वह सम्मान निबंध को, खांटी निबंध को मिलता है तो इससे हिन्दी के प्रासाद की दीप्ति मंद नहीं होगी, द्विगुणित ही होगी।

इस संग्रह के इस रूप में आने के लिए कई आत्मीय और अभिन्न ज़िम्मेदार हैं। उनके नामों को गिनाकर आभार की औपचारिकता पूरी करना, एक असहज कर्म है मेरे लिए क्योंकि वे सभी बड़े अनौपचारिक हैं, किसी की न कोई महत्त्वाकांक्षा है न कामना। फिर भी दायित्व के बतौर, अपने मन के न मानने के कारण मैं यह उल्लेख करना चाहता हूँ कि अनुजवत् जय नागड़ा के चित्रों के बिना मेरा कोई संकलन पूर्णता नहीं पाता। इंदौर में मेरे विभागीय सहयोगी सर्वश्री धर्मेन्द्र शर्मा, श्री कृष्णलाल भावसार तथा श्री दिनेश व्यास ने बड़ी लगन से वहाँ लिखे गए निबंधों को टंकित किया व कराया, उज्जैन में श्री सुरेश जैन, श्री प्रभाकर जोशी, श्री मनोहर कुवाल व श्री सुनील मूंदड़ा ने बड़े अपरिचित से माहौल में सहायता कर पांडुलिपि तैयार करने व निबंधों के टंकण में सहयोग दिया। इंदौर के भाई जगदीश बाधवानी ने बड़े आत्मीय भाव से अपने संस्थान नवीन फोटो कॉपियर में पूरी पांडुलिपि तैयार की, उनका हृदय से आभार मानता हूँ। प्रवीण प्रकाशन के आदरणीय श्रीयुत, श्रीकिशनजी गुप्ता मेरे परिवार के ही अंग हैं जो बड़े कम समय में इतने मनोहारी स्वरूप में कृति को ला देते हैं, निरन्तर आग्रह करते हैं संकलन भेजने का, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिन्दी के सभी सुधी पाठकों से आग्रह करता हूँ कि वे अपनी बेबाक़ राय मुझे जरूर भेजें। उनकी राय ही मेरी प्रेरणा का संबल रहती आई है।

प्रेरणा के ये दीप न हों तो सफ़ों के आँगन सूने रह जाएँ।

मैं चाहता हूँ कि मेरे लेखन के आँगन में भले एक दिन दीपावली न मने लेकिन छोटे–छोटे प्रेरक दीप हर दिन जगमगाया करें।

यही झिलमिलाता आलोक मेरे जैसे लेखक की अनमोल निधि है। कुबेरों की नगरी में इसी छोटी–सी निधि के बलबूते पर पूरे आत्मविश्वास से एक छोटे से कुटीर में रहता रहूँ इससे बड़ी कोई आकांक्षा नहीं वर्ना आकांक्षाओं के आकाश इतने निर्मम होते हैं कि वे मर्म के छोटे–छोटे तारों के अस्तित्व को कब निगल लें, भरोसा नहीं, इसलिए सिर्फ अपने आत्मीय, सजग और सुधी पाठको के भरोसे, यह संग्रह सौंप रहा हूँ।

— **नर्मदाप्रसाद उपाध्याय**

उज्जैन

दशहरा, 1999

असावधान ही रहना

मौसम भी छलने लगे। सोचते रहे, चिंतित होते रहे, अनुष्ठान करते रहे कि वर्षा हो लेकिन वह नहीं हुई। उस समय नहीं हुई जब उसके लिए प्रार्थनाएँ की जा रही थीं और फिर हुई तो इतनी और ऐसी कि जिसके लिए नर्मदा–तट के वासियों को फिर प्रार्थना करनी पड़ी कि वह थम जाएँ अखबारों में इस अतिवृष्टि के जाने कितने समाचार छपे हैं, चित्र छपे हैं जिन्हें देखकर बाढ़ की रौद्रता से साक्षात् होता हैं। यह ऋतु का छल है। वह समय पर अब नहीं आती, आश्वस्त कर देती है पर वायदा नहीं निभाती और जब आती है तो लगता है कि वायदा तो नहीं निभाया, बल्कि बदला ले लिया। समय ही छल का हो तो मौसम कैसे अछूते रहें।

ऋतुओं के इस छल को बुन्देलखण्ड के एक अनाम से कवि लछमन ने ताड़ लिया था। वसन्त जिसे ऋतुराज कहते हैं, शोभा और काम का राजकुमार कहते हैं वह भी सन्त बन जाता है। उसके सारे प्रतीक सन्त के परिधान बन जाते हैं। वसन्त के इसी सन्त रूप को लछमन कवि ने कुछ यों शब्द दिए :

गुलाब की लँगोटी दयें, सेव की सुमरनी लयें,
बेला की बन माल पे आग तिलक दे गयो।
मालती की झोली, मृगछाला गुलखेरा की,
टेसू की टोपी दै परम हंस ह्वै गयो।।
लछमन कवि कहन लगे आमन ते मौर झरें,
ओड़ के तूमी रंग परमार्ग पै चलो गयो।
ए री विरहिनी मैं तो सौं चित्तमाली कहौं,
सावधान हो जा वसन्त सन्त ह्वै गयो।।

काम के राजकुमार का इस तरह छलिया बनकर सन्त हो जाना विस्मित नहीं करता सावधान करता है। कवि सन्त से भी सावधान करता है। सावधान होना पड़ेगा। ऋतुओं से भी सावधान रहने की ज़रूरत है। जहाँ तक मनुष्य का प्रश्न है, अब उससे क्या सावधान रहना ? किस–किससे सावधान रहेंगे। अब ऐसे मनुष्यनहीं मिलते जो हमारे असावधान रहने पर हमें सावधान कर सकें।

अभी–अभी चुनाव बीते हैं। सभी ने एक–दूसरे के प्रति सावधान रहने को कहाँ किसी की समझ में नहीं आया कि किससे सावधान रहें ? ऐसे समय में सिर्फ यही लगता है कि असावधान ही बने रहो। असावधानी से जीने पर, सावधानी के प्रति अपनाई जाने वाली अतिरिक्त सजगता के तनाव नहीं होते।

यह असावधानी बड़ी मोहक है। यह तनाव से दूर रखती है, सहज रूप से जी जाने की आकांक्षा जन्मती है, अपनी धरती और अपने लोक से जोड़े रखकर जीवन की सहज यात्रा को

आगे बढ़ाती है। जो सावधान बने रहने की आदत डाल लेते हैं वे शंकाग्रस्त, मानसिक दबावों में दबे ऐसे कृत्रिम मनुष्य बन जाते हैं जिनका सारा समय अपने समीकरण जोड़ने और दूसरों के समीकरण बिगाड़ने में बीत जाता है। जीने के स्तर पर गणित से जूझने से बड़ी कोई बिडम्बना नहीं। जब गुणा–भाग, जोड़–घटाना जीवन में घटित होने लगता है तब उपलब्धि का प्रतिशत हो शून्य जाता है। अभी एक मराठी सन्त की वाणी सुनी "व्यस्त रहो, मस्त रहो, अस्त–व्यस्त मत रहो।" अस्त–व्यस्त होना जीवन में गणित को उतार लेने का परिणाम है। सवाल यह उठेगा कि यदि असावधान रहे तो मैदान से अपने आप निकल जाएँगे। असावधानी में जीना ख़तरों से जूझना है। विपत्तियों की भविष्यवाणी नहीं होती। तब प्रश्न यह है कि सावधानी कौन–कौन–सी बरती जाएँ ? सावधानियां इतनी हैं कि यह चुनाव ही मुश्किल है। धर्म, संस्कृति, समाज, कला, साहित्य, इन सारे क्षेत्रों के तथाकथित पंडितों के पास, आख्याताओं और मार्गदर्शकों के पास जाओ तो ये सावधान लोग इतनी सावधानियां गिना देंगे कि अनुभव होगा, असावधान ही ठीक थे। नौकरी के क्षेत्र में तो और बदतर हाल है। हरेक सावधान है। सब एक–दूसरे की ओर देख रहे हैं कि कोई तो असावधान दिख जाएँ लोकहित की कीमत पर जब से नौकरशाही ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सुरक्षा की खातिर, सुविधाओं और भोगों की ख़ातिर, समझौते करने शुरू किए तब से नैतिकता के मानदंड ही बदल गए निष्ठा और समर्पण से काम करने वाले सेवक मैदान से बाहर कर दिए गए क्योंकि उनके पास वह सावधानी नहीं थी जिसके बूते पर शिखरों को साधकर धरती पर खड़े स्वाभिमानी तोरणों को ध्वस्त कर दिया जाता है। मंदिर की शोभा शिखर नहीं तोरण द्वार हैं किंतु शीर्ष पर होने के कारण सत्ता का केन्द्र शिखर होता है जिसे साध लेने पर अपने बलबूते पर खड़े तोरण ध्वस्त कर दिए जाते हैं। ऐसे स्वाभिमानी तोरणों को ध्वस्त होना सुहाता है किन्तु वे ऐसी सावधानी बरतना नहीं चाहते जो शिखर के अहं को तुष्ट कर सके। स्वाभिमानी तोरणों की रचनात्मक ऊर्जा इतनी प्रबल होती है कि उसे ध्वस्त होने पर न दुःख होता है न पश्चात्ताप। ऐसे तोरण फिर बड़ी जल्दी दुगने सौन्दर्य के साथ, संघर्ष के भासमान शिल्प को लिए उठ खड़े होते हैं। इसलिए जिसे अपनी संकल्प–शक्ति की दृढ़ता और संघर्ष करने की क्षमता पर भरोसा होता है वह असावधान रहना ही ज़्यादा पसंद करता है। सावधानी ओढ़ी जाती है जबकि असावधानी के लिए कोई जतन आवश्यक नहीं है।

असावधानी का यह भी अर्थ कदापि नहीं कि जानबूझकर लोक–व्यवहारों के प्रति गैर संवेदनशील बने रहें या अपने दायित्वों का निर्वाह छोड़ दें, कर्तव्यविमुख हो जाएँ। असावधानी का अर्थ अनुत्तरदायी होना नहीं है, बल्कि यह है कि अपने निजी उत्तरदायित्व को निबाहने की परिधि को बढ़ाकर उसे समष्टिगत बना दो। उसके वृत्त में सभी के दुःख भी आने दो। सावधान वह होता है जिसकी चिन्ता के दायरे में सिर्फ उसी के सुख और दुःख होते हैं जबकि असावधान वह होता है जिसकी उदार संवेदना अपने आसपास के लोक के दुःखों को भी समेटती है। वह खण्ड, खण्ड में नहीं देखता, अखण्ड और समग्र रूप में समाज को, उसके व्यवहार को देखता है, अनुभव करता है, उससे जुड़कर एकात्म हो जाता है और कोशिश करता है कि वह उसके लिए कुछ करे। असावधान चेतना बड़ी उदात्त होती है। यह चेतना

सिर्फ अपने वर्ग तक सीमित नहीं रहती। इस चेतना का उद्देश्य यह कभी नहीं होता कि वह आयोजनों, गोष्ठियों और समारोहों के मार्फत कहीं अपने आपको महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने की कोशिश करे और यह दावा भी करे कि ऐसा करते हुए कहीं वह बड़ा सामाजिक दायित्व निबाह रही है। यह चेतना सिर्फ अपने वर्तमान तक सीमित नहीं रहती बल्कि अतीत के उत्कृष्ट मूल्यों की ओर मुड़कर उन्हें आत्मसात् करने की कोशिश करती है तथा भविष्य के स्वप्न देखती है। असावधान चेतना दृष्टा होती है, सीमित दृष्टि नहीं। यह चेतना कभी दीनता का अनुभव नहीं होने देती। वह इतनी संपन्न होती है कि व्यक्ति सारे बंधनों से मुक्त होकर शहंशाह हो जाता है, जैसे कबीर हुए, उन्होंने कहा :

चाह मिटी, चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
उनको कछू कछू न चाहिए जो साहन के साह।।

शाहों के शाह होने की कुव्वत तभी पैदा होती है जब मन बेपरवाह हो जाएँ कबीर की यही बेपरवाही उनकी असावधानी है। यह बेपरवाही मनुष्य को स्वाभिमानी लेकिन विनम्र बनाती है, नल और नील की तरह जिनके फेंके पत्थरों ने रामेश्वरम् से लंका तक का पुल बना दिया और जिसका श्रेय भले उन्होंने नहीं लिया लेकिन वे ऊंचा कितने उठे ? बिहारी ने लिखा :

नर की अरु नल–नील की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचो हवै चलै, ते तौ ऊंचो होइ।।

नल और नील की तरह अगर मनुष्य का व्यवहार हो तो वह जितना विनम्र होगा, उतना ही ऊंचा उठेगा। ठीक यही स्थिति महान दानदाता रहीम की थी, जिनकी आँखें दान देते समय नीचे झुक जाया करती थीं :

देनहार कोई और है, भेजत है दिन रैन।
लोग भरम हम पर करें तासे नीचे नैन।।

कबीर और रहीम जैसे व्यक्तित्व बड़े असावधान व्यक्तित्व थे।

असावधानी को आज जिस अर्थ में लिया जाता है, उसकी व्यंजना वह है ही नहीं। असावधानी ऐसा शब्द नहीं है जिससे दूर रहने की कोशिश हो। इस शब्द के प्रति एक अलगाववादी भाव इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि सावधान व्यक्ति अभिनंदित और प्रतिष्ठित होने लगे। असावधानी की व्यंजना यदि कबीर और रहीम युग में तलाश की जाती तो ऐसा नहीं होता। सही तथ्य तो यह है कि सावधान के मायने ही अलग हो गए सावधान का सीधा अर्थ है चैतन्य और सजग असावधान। इन दोनों शब्दों के मूल में कहीं ध्यान है, संवेदना का केन्द्रीकरण है, अन्तर्दृष्टि की जागरूकता है, जो दिखती नहीं। जहाँ इसका प्रदर्शन होने लगता है वहाँ अर्थवत्ता गुम हो जाती है। इन दोनों शब्दों के साथ भी यही हुआ। जिन्होंने चतुराई के साथ ध्यान को संवेदना को और अन्तर्दृष्टि के नाम पर देखने भर को ओढ़ लिया वे सावधान हो गए पूजे जाने लगे। जबकि मान्यता तो उन्हें मिलनी चाहिए थी जो इस ओढ़ने के छद्म से

दूर रहते आएँ इसलिए जब लछमन कवि सावधान रहने को कहते हैं तो उनका संकेत होता है कि उस सावधान वसन्त को पहचानो जो भोगी होकर भी सन्त होने का छल कर रहा है, उन्होंने सन्त से भी सावधान किया क्योंकि आज के समाज में सन्त के वेश में जगह–जगह भोगी वसन्त सच्ची आस्था को, निर्मल और निष्कलुष लोकमानस को छल रहे हैं।

यह छलना है। विवाह के अवसर पर कई जातियों में तीन बार परिणयबंधन में बंधते समय सावधान की पुकार लगाई जाती है। यह आह्वान आज के अर्थों में सावधान रहने के लिए नहीं है। यह आह्वान समूचे समाज की साक्षी में एक ऐसे युगल के लिए किया जाता है जिसे भविष्य रचना है। रचने की यह प्रक्रिया सावधानी से पूर्ण नहीं होनी, उसे असावधानी को आत्मसात कर ही पूर्ण किया जा सकेगा। इसलिए तीन बार सावधान कहकर इस शब्द की फिर कभी पुनरावृत्ति नहीं होती। सावधान कहते हुए यह आह्वान किया जाता है कि असावधान बने रहकर नए सृजन का आरम्भ करना तभी दो से एक हो पाओगे। यदि द्वैत का भाव बना रहा तो इस सावधानी के कारण यात्रा आगे बढ़ेगी नहीं। इस परिप्रेक्ष्य में परिणय के समय सावधान शब्द का उच्चारण कर, फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं करना एक गहरे सन्देश को मन मानस तक पहुँचाता है। इस सन्देश का निहितार्थ यही है कि अब दोनों मुक्त हो, अपनी समझदारी से अपनी राह बनाओ और सृजन के नए प्रतिमानों को गढ़ो। यही भारतीय दर्शन का भी सार है कि चैतन्य एक है और आनन्द के किसी क्षण में दो में विभक्त हो गया है। वाक् और अर्थ दोनों पहले एकात्म हैं फिर अलग–अलग हो जाते हैं। परिणय के बाद एकात्म होना और फिर अपने–अपने दायित्वों को सुनिश्चित कर अपनी यात्रा को आगे बढ़ाना यही असावधान चेतना की परिणति है। जब यह यात्रा सच्चे रूप में आरम्भ होती है तो फिर संसार के व्यापार से जुड़ना होता है। यह जुड़ना यदि सिर्फ अपने तक सीमित हो गया तो फिर सावधानी जन्मती है जो असुरक्षा पैदा करती है, अपनी निजता तक ही सीमित बनाए रखती है, उदात्त और उदार नहीं होने देती और इस तरह लोक–व्यापार से व्यक्ति के. जुड़ाव को काट देती है। इस देश का लोकजीवन जो गाँवों में बसता है, जिसने इस देश की मौलिक अस्मिता की रचना की है, जो स्पन्दन है राष्ट्रजीवन का, वह बड़ा असावधान है। गाँव का नवपरिणीत युगल अपने तक सीमित नहीं रहता, वह तो अपने खेत खलिहान की हर गतिविधि को बारीकी से देखता, परखता है और उसमें शामिल होकर पूरे लोक के लिए दाता बन जाता है। उसके पास कोई कृत्रिमता नहीं होती। वह फसलों को बोता है, उनके उगने पर उनकी रखवाली करता है, उनके पकने पर उत्सव मनाता है जिसमें सभी की साझीदारी होती है। यह युगल बड़ी आकुलता के साथ अपनी कजरी नाम की गाभिन गाय के महीनों की गिनती करता है। बिसरा दिए गए फक्कड़, और लोक के सच्चे कवि स्व. जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' की ये पंक्तियां असावधानी के इन पलों में बहुत याद आ रही हैं :

बिर्रा की मोटी टिक्कड़ के संग चना की भाजी,
खटमिट्ठी चटनी से बढ़कर पी की तुनुक–मिजाजी।

जब तक श्याम कलेऊ करते, राधा कैथा बीने
मन ही मन गाभिन कजरी के गिनने लगे महीने।।

आश्वस्त हूँ कि ऐसे ही असावधान मन की निश्छलता कभी इस देश को छला जाने नहीं देगी। वसन्त कितने ही यत्न कर ले वह सन्त नहीं बन सकेगा। रचना की यात्रा कभी थमेगी नहीं, वह उसी तरह सदियों को पार कर अपने पाँव आगे बढ़ाती जाएगी जिस तरह अभी तक की तमाम सदियां उसने पार कीं। असावधान के पाँव कभी विराम नहीं लेते।

ग्रीष्म की देहलीज़ से

तपन धीरे–धीरे बढ़ रही है। हरे पत्ते उदास होने लगे, खेतों में उगी गेहूँ की हरी बालियाँ, चने और ज्वार के छोटे–बड़े पौधे सूखते चुपचाप बाट जोहने लगे उन बैलगाड़ियों की जिनमें सवार होकर खेतों से उन्हें खलिहानों में पहुँचना होगा। नदियों का प्रवाह मंथर हो चला, पगडण्डियों पर हौले–हौले धूल के बगूले उठने लगे, इन पगडण्डियों के किनारे लगे बबूल के काँटे उलझने लगे वस्त्रों से, आम्रबौरों का यौवन ढलने लगा, पलाश की शाखों पर फूलते अंगारे गुम होने लगे, शहर के आँगन में साँझ देर तक ठहरने लगी, आभास हो रहा है कि गर्मी आने को है।

गर्मी तो आएगी। वह तो नियत है। लेकिन हरियाली का उदास होना, नदी के प्रवाह का क्षीण होना और टेसू का विलुप्त होना मन को सालने लगता है। शायद इसलिए कि ग्रीष्म के आगमन को उल्लास से जोड़कर देखने की मानसिकता नहीं है। अपने मन की उदासी को प्रकृति में प्रतिबिम्बित होते हुए देखा जाता है। मगर प्रकृति उदास नहीं होती। हरे पत्ते उदास नहीं होते। वे तो राह देखते हैं पतझर की, वह आए तो उनका जीवनचक्र पूरा हो और वे अपने उत्तराधिकारी को जल्द–से–जल्द अपनी जगह दे सकें। खेत की हरी फसलें चुपचाप आशंकित भाव से बैलगाड़ियों की बाट नहीं जोहतीं, वे तो उत्सुकता के साथ अपने रसहीन होकर खलिहानों में पहुँच जाने का रास्ता देखती हैं, वहाँ पहुँचें फिर परिवर्तित हों अन्न के दानों में और इस सृष्टि के अस्तित्व को कायम रखने के लिए अपना अस्तित्व खो दें, नदियों का प्रवाह इसलिए मंथर हो जाता है कि उसके धीमे संगीत से तटों की पवित्रता में गुंजन के प्राण प्रतिष्ठित हों, धूल के बगूले उठते हैं इसलिए कि यह अहसास भी हो कि पाँवों के नीचे कुचले जाने वाले धूल–कण भी समूह–नृत्य कर सकते हैं, बबूल के काँटे उलझते हैं वस्त्रों से ताकि सही रास्ते पर पूरी सावधानी के साथ चला जा सके, आम के बौरों का यौवन ढलता नहीं, वह तो हरे आमों के जन्म का साक्षी होता है, पलाश के दहक़ते फूल यदि गुम होते हैं तो उसके पत्ते हरिया जाते हैं और शहर के आँगन में साँझ यदि देर तक ठहरती है तो उसकाभासमान बने रहना यह आश्वस्ति देता है कि रात बहुत देर तक नहीं ठहरेगी, आँगन में सुबह के पाँव और जल्दी पड़ने लगेंगे।

भारती जैसे संवेदनशील कवि ने झाँक लिया था निसर्ग के इस उल्लास में और अपने मन को उससे एकात्म करते हुए लिखा था :

बन बन में उड़ी महक आग की – ओ मेरे प्यार ?
प्यार एक : स्वाद मगर होते हैं क्या कई
उड़ते उड़ते मुझको हल्के से छू गयी
दुबली–पतली पत्ती नीम की
पीली और बहुत कटीली
कड़वा मीठा जादू डार

सँभल सँभल कर, करना पार
चैता के पतझर का वन
ओ मेरे मन !

आग की महक को आत्मसात कर लेने का संकल्प कर लेना ही, ग्रीष्म के आगमन का सच्चा अभिनन्दन है।

यह अभिनन्दन नहीं किया जाता। गर्मी के आने के पहले से ही मन आशंकित हो उठता है। तपन, उमस और लू के अहसास जागने लगते हैं। गर्मी बिताने के लिए ऐसी तैयारियाँ की जाती हैं जैसे गर्मी से शीत युद्ध लड़ा जाना हो। यह अवसरवादी दृष्टि है जो वसन्त में निसर्ग की वन्दना करती है और ग्रीष्म आने पर उसे कोसती है।

यह दृष्टि सुविधा की देन है। इस सुविधा ने हमारा बहुत कुछ स्वाभाविक छीना है। इस सुविधा ने सबसे बड़ा अहित यही किया कि जो पुल मनुष्य और प्रकृत्ति के बीच अपने आप बन जाया करते थे, वे पुल बनने बंद हो गए सुविधा पर वे अवलम्बित रहने की विवशता पैदा हो गई। तादात्म्य टूटने लगे। इस टूटन के लिए ज़िम्मेदार वह उपभोक्तावादी वृत्ति है जिसके कारण अनेकों ऐसे संकट उठ खड़े हुए जिन्हें जन्मने से रोका जा सकता था। ऋतुओं का असन्तुलन, पर्यावरण का प्रदूषण और ओज़ोन छिद्र के बढ़ने का संकट, इसी तरह के संकट हैं। आज कोशिश यही होती है कि प्राकृतिक देनों से दूर रहा जाएँ प्रकृति को ऐसा अजूबा बना दिया जिसे सिर्फ विस्मय से निहारा जा सकता हो जबकि प्रकृति के सारे अवदान इसीलिए हैं ताकि उन्हें अपने आपमें समेटा जा सके।

जाने कब से यह चिन्तन होता आ रहा है लेकिन इसका फल दूर–दूर तक दिखाई नहीं देता। निसर्ग से निरन्तर दूर रहने के कारण यह अनुभूति पनपी है कि हरे पत्ते, गर्मी के आगमन की आहट को सुनकर उदास होते हैं, फसलें चुपचाप सूखती हैं और नदी का प्रवाह मंथर हो जाया करता है। ग्रीष्म की देहलीज़ पर खड़े–खड़े ऐसे ही विचार आते हैं। अपने अनुभवों में झाँको तो लगता है खुद ही कितने बदल गए और दोष औरों को देते हैं। वे घनी अमराइयाँ, नदी का सँकरा उद्दाम प्रवाह और कच्चे आमों का खट्टा–मीठा स्वाद, सब कुछ तो बिसर गया। उस दिशा में लौटना नहीं हुआ। न लौट पाना विवशता नहीं थी, शायद वह मनोग्रन्थि थी जो खेत की तरफ लौटने को पीछे हटना और वातानुकूलित कक्षों में बैठकर ग्रीष्म के अहसासों से दूर बने रहने को आगे बढ़ना मानती रही। यदि अपने लोक की तरफ, अपने खेत की तरफ़ बार–बार लौटते रहो तो यह लौटना, पीछे हटना नहीं होता, बल्कि आगे बढ़ना होता है क्योंकि अपने स्वाभाविक अनुभवों से ताक़त लेकर कहीं और तेज़ी से आगे बढ़ा जा सकता है। आज उस लोक को ही हेय समझा जाता है जिस लोक ने हमारी अस्मिता गढ़ी। उस लोक से अपना संबंध तोड़कर अपने आपको अधुनातन घोषित करना एक क्रूर विडम्बना है। जड़ों की ओर बार–बार लौटने से आगे बढ़ने का नैरन्तर्य कायम रहता है, इस विचार को अमल में शायद इसलिए नहीं लाया गया क्योंकि इससे उस आभिजात्य को ठेस लगती थी जिसे ओढ़कर हम अपने वैज्ञानिक और आधुनिक होने का दम्भ भरते हैं। अपनी

जड़ों से कटकर यदि हम बैठे हैं तो फिर किसी विशाल देश की धरती पर नहीं बैठे, एक छोटे से एकाकी द्वीप पर बैठे हैं। यह द्वीप अपने भव्य होने का भ्रम भले दे दे, अपने जीवन्त बने रहने का प्रमाण नहीं देगा। इसी सोच और आचरण का परिणाम है कि इस देश को तथाकथित आधुनिक कहलाने वाले लोग अपनी आँखों से नहीं देखते, पर्यटक निदेशिका की निगाह से देखते हैं। लगता है इस देश के कुछ आधुनिक कहलाने वाले बुद्धिजीवियों के लिए यह देश, एक ऐसा अजूबा देश है जिसकी नए सिरे से उन्हें पहचान करनी है। अपने देश को या तो ये लोग पर्यटन निदेशिकाओं की दृष्टि से देखते हैं या उन चश्मों से जो समय–समय पर आयात होते हैं। जाने कब से इन्होंने अपनी स्वयं की आँखों से अपने देश को नहीं देखा।

इसी दृष्टिदोष ने एक अपारदर्शी दीवार खड़ी कर दी जिसके कारण हम एक दूसरे के लिए अजनबी हैं और गर्मी के ठीक पहले शाख पर स्थिर गंभीर हरे पत्तों को देखकर मानते हैं कि इन पत्तों की उदासी का कारण आने वाली तपन है।

यह दृष्टिकोण किसी भी लिहाज़ से इस देश की निरन्तर विकसित होने वाली दृष्टि का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसे बदलने की ज़रूरत है, इसलिए कि बिना इसके बदले देश की भावी पीढ़ियों का भविष्य नहीं बदलेगा।

इक्कीसवीं सदी में दो बरस बाद प्रवेश करने को आतुर इस देश के वासियों की यह पहली ज़रूरत है कि उस जातीय गंध में फिर डूबें जिसके कारण इस देश की पहचान है। अपनी पहचान की खोज पहली प्राथमिकता है। इस पहचान को पाने के लिए निस्संदेह एक सार्थक पहल चाहिए, वैज्ञानिक सोच चाहिए, प्रखर चेतना और दृढ़ संकल्पशक्ति चाहिए इन सबका अभिनय नहीं चाहिए। इस खोज का किया जाना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि आज जिस असमंजस के कुहासे में हमारा बोध गुम हो गया है उस कुहासे को छाँटा जाए।

यह बोध मिल जाए तो यात्रा के ठहराव का मौन भंग हो। समझ पाएँ कि न तो हरे पत्ते उदास हैं, न ही खेत की फसलें चुपचाप और न ही नदी का प्रवाह मंथर।

यदि साँझ हमारे आँगन में देर तक ठहर गई है तो इसका यही अर्थ है कि उजाले की साँसों का आरोह–अवरोह कभी थमता नहीं, किरणें कभी हार नहीं मानतीं, इसलिए कि इन किरणों में आग की महक बसा करती है।

सड़क पर सोयाबीन और रहीम

दीपावली के आसपास सोयाबीन की फ़सल पक जाती है। जिन खेतों में पहले कपास उगाया जाता था वहाँ अब सोयाबीन बोया जाता है। इसलिए कि सोयाबीन के दाम अच्छे मिलते हैं। इसकी फसल पकने पर जब इसे समृद्ध किसान काटकर खलिहानों में ले जाते हैं, तब वे इसे आधुनिक कृषि उपकरणों के जरिए उड़वा लेते हैं और बेहतर दामों पर बाज़ार में बेच देते हैं। मेरे कस्बे के आसपास खूब सोयाबीन बोया जाता है। भारी संख्या में मज़दूर इसे खेतों से काटते हैं और मज़दूरी उन्हें समृद्ध किसानों के द्वारा तयशुदा दरों पर दे दी जाती है। ये मज़दूर खेतों से ऐसी सोयाबीन की फसल भी बीन लाते हैं, जो खेतों में पड़ी रह जाती है, जिसे बड़े किसान अपने खलिहानों में नहीं ले जा पाते। सोयाबीन की ये फली लगी सूखी डालियाँ इन मज़दूरों के हाथ में आकर उनकी निधि बन जाती हैं। उनके पास न अपने खलिहान होते हैं न अपने हारवेस्टर। उनकी समस्या होती है कि इन फलियों से सोयाबीन के दाने कैसे निकाले जाएँ ? इस समस्या का एक सरल निदान उन्होंने खोज लिया है। वे सोयाबीन की फलियों लगी इन सूखी डालियों का ढेर बनाकर सड़क पर बिछा देते हैं। सड़क पर जो ट्रैक्टर, बस, ट्रक और अन्य वाहन गुज़रते हैं वे इस ढेर को कुचल देते हैं। जब यह ढेर कुचला जाकर उड़ाने लायक हो जाता है तब उसे उड़ाकर वे सोयाबीन जितनी भी निकले निकाल लेते हैं, फिर बाज़ार में बेच आते हैं। हर दीपावली के आसपास जब अपने गाँव जाता तब सारी सड़क ये इन ढेरों से पटी रहती है और सड़क के दोनों ओर ये मज़दूर बैठे–खड़े दिखाई देते हैं। बरसों से यह दृश्य देख रहा हूँ। सोयाबीन की सूखी डालियों के ढेर, उनका कुचला जाना, फिर इस कुचले हुए ढेर को उड़ाकर भूसा अलग कर, सोयाबीन के दानों का बेच दिया जाना।

एक वह सोयाबीन का सौभाग्यशाली दाना है जो बड़े जतन से खलिहानों में लाया जाता है और एक वह जिसकी नियति है कि उसे सड़क पर दौड़ते वाहनों के पहिए कुचल देते हैं, यदि वह सलामत बच गया तो औने पौने दामों में बाज़ार मेंबिक जाता है या फिर उसे भूसे का अंश बनाकर ही फिर खेत के बीच फेंक दिया जाता है। इन ढेरों के पास कंठ नहीं, भाषा नहीं और न ही कोई ऐसी भंगिमा, जिससे ये अपने पर बीत रहे को अभिव्यक्त कर सकें, इसलिए इनका मूक बने रहना बड़ा खलता है। लेकिन यह भी लगता है कि वे क्यों नहीं बोलते जिनके पास कंठ है, भाषा है, अपने आपको अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य भी है।

नहीं बोले, सदियों से नही बोले, आज भी बोलते नहीं, उम्मीद भी नहीं कि भविष्य में कुछ बोलेंगे। बार–बार सोचता हूँ कि सड़क पर पड़ी यह सोयाबीन अगर कुछ नही बोलती तो वह आदमी तो बोले जो औने–पौने दामों पर बाज़ारों में बिक रहा है या खेतों में फेंका जा रहा है भूसे के साथ। दिक्कत यही है कि वह सह लेता है मगर बोलता नहीं, प्रतिरोध ही नहीं करता। इसके नाम पर जो बोलते हैं, वे वास्तव में वे हैं जो खलिहानों की शोभा हैं। वे जो खलिहानों की शोभा बनते हैं, वक़ालत उनकी करते हैं जो ढेर की सूरत में सड़क पर पड़े हैं। इस वकालत का कोई अर्थ नहीं होता बल्कि इस वकालत के जरिए वे यही कोशिश करते हैं

कि उनकी नियति पर कहीं आँच न आए, सड़क पर पड़े सोयाबीन का भाग्य न बदल जाएँ बड़ा विलक्षण विरोधाभास है। आम आदमी, किसान, मज़दूर और बेसहारा लोगों के पैरोकार वे हैं जिनकी कोशिश यही है कि इनका भाग्य कहीं बदल नहीं जाएँ खलिहानों में सुरक्षित रूप से रखे, तिरपाल से ढँके सोयाबीन और सड़क पर पड़े कुचले जाते सोयाबीन के दाने इसकी गवाही हैं। सड़क पर पड़ा सोयाबीन चुप है जब कि खलिहानों में तिरपाल से सहेजकर ढँका हुआ सोयाबीन बड़ा वाचाल। जिसे गुहार लगानी चाहिए वह मौन है और जिसे मौन बैठना चाहिए वह मुखर। रहीम ने बड़े सलीके से इस विसंगति की तरफ सदियों पहले इशारा कर दिया था।

पावस देखि रहीम मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भए हमको पूछे कौन।।

आज जब दादुर वक्ता बन बैठे हों, तब कोयल का मौन साध लेना ही ठीक जान पड़ता है। ऐसा भी नहीं है कि यह आज ही हो रहा हो, यह तो रहीम के समय में भी था और खुद रहीम की अपनी व्यथा भी यही रही। अपने समय में उनकी वफादारी पर संदेह किया गया, उन्हें लांछित किया गया, अपमानित भी किया गया और उन्होंने वे दिन भी देखे जब वे अकबर के परम विश्वासपात्र थे और वे दिन भी जब उन्होंने सीख ली कि अपनी व्यथा अपने मन में ही रहने दो, क्योंकि ज़माना ऐसा है कि लोग तुम्हारी व्यथा को बाँटेंगे नहीं, उसे सुनकर तुम्हारी ही खिल्ली उड़ाएँगे।

सड़क पर पड़े और खलिहान में तिरपाल के नीचे सहेजकर रखे, इन दोनों तरह के सोयाबीनों को देखता हूँ तो रहीम बेहद याद आते हैं। उनकी नियति भी कुछ इसी तरह की रही।

सदियाँ बीत जाती हैं लेकिन मानवीय व्यवहार नहीं बदलता। बहुसंख्यक लोग वे हैं जो सिर्फ अवसर की राह देखते हैं, अपने स्वार्थ की परिधि के बाहर झाँकते नहीं और बहुत कम रहीम जैसे होते हैं जिनका आचरण उदारता का अथाह कोष होता है, जिनकी पूँजी निःस्वार्थ बने रहकर परमार्थ करने की ललक होती है, पर रहीम जैसे लोग इतिहास की शोभा–भर बने रह जाते हैं। इतिहास की शोभा पर रीझा जा सकता है, लेकिन रीझकर कुछ पाया नहीं जा सकता। पाया तभी जा सकेगा जब यह शोभा निरन्तर जन्मती रहेगी, हर समय के मानवीय सोच में, व्यवहार में, कर्म में। यह शोभा बार–बार जन्मती नहीं, इसलिए रहीम नहीं मिल पाते युगों तक और परिणाम यह होता है कि सोयाबीन की फलियाँ जो एक ही पेड़ पर फली–फूलीं, उनमें से किसी एक के दाने खलिहान में पहुँच जाते हैं और दूसरी के सड़क पर। जब कभी सोयाबीन की फसल आती है, रहीम भी जाने कहाँ से मन में अंकुरा जाते हैं। रहीम के याद आने की वजह यह है कि उनके बोलों में बड़ी सहजता के साथ–साथ व्यावहारिकता है। वे कोरे उपदेशक नहीं हैं। वे क्रांतिकारी भी नहीं हैं, सिर्फ पारदर्शी हैं। उनके आर–पार देखा जा सकता है। मनसबदार हैं तो इस मामले में कि उनका सदैव बिकने को तैयार है

अपने दृग के लिए आँखों के लिए अपने मन को दाँव पर लगा देने वाले मनसबदार सिर्फ रहीम ही हो सकते हैं।

मन सौं कहा रहीम प्रभु, दृग सौं कहा दिवान।
देखिदृगन जो आदरैं, मन तेही हाथ बिकान।।

रहीम वे चंदन हैं जो चाहे प्रभु के मस्तक पर लेपित कर दिया जाए या किसी दीन भक्त के माथे पर उसकी सुगंध में फर्क नहीं पड़ता, उनके पास भेद, अन्तर या अलगाव नाम की किसी संज्ञा का कोई स्थान ही नहीं है। उनकी चाहत तो ऐसी प्रीति की है जहाँ दो भिन्न अस्तित्व मिलें तो ऐसे एक हों कि दोनों, अपना–अपना मूल अस्तित्व ही खो बैठें। एक नया और अभिन्न अस्तित्व रच लें।

रहिमन प्रीति सराहिए, मिले होत रंग दून।
ज्यौं हरदी जरदी तजै, तजै सफेदी चून।।

हल्दी और चूने का मिलन हो तो हल्दी का पीलापन भी मिट जाए और चूने की सफ़ेदी भी। फिर प्रीति का लाल रंग बने जो मिटने के लिए न बना हो। रहीमइसी न मिटने वाले रंग के, ऐसी ही प्रीति के प्रतिनिधि हैं, इसलिए जब कभी यह पश्चात्ताप भर जाता है कि हम जीवन में पारदर्शी नहीं हो पाए तो रहीम याद आते हैं, बार–बार याद आते हैं। आज का समय भी कुछ ऐसा है कि वह सिर्फ याद भर करा देने के लिए है, जिनको याद कर रहे हैं उनकी तरह होने का प्रयत्न कर लें, इसके लिए नहीं है। इस सोयाबीन को देखकर बहुत कुछ याद आता है। लेकिन इस सोयाबीन की नियति को कैसे बदल दिया जाए या इसकी तरह जिस मनुष्य की नियति समय के स्वार्थ ने रच दी है, उसे बदलें, इस दिशा में कोई प्रयास करने को तैयार नहीं पश्चात्ताप, अवसाद और अपने आसपास की दुनिया में उलझे रहकर सिर्फ अपने ही दंभ को बचाए रखने के लिए सारी ऊर्जा व्यय हो रही है। अपने दंभ को, अहं को कहीं स्वाभिमान हरेक ने मान लिया है और इसी दंभ को बचाने की कोशिश हो रही है। यह मोटा फर्क नहीं समझा जा रहा है कि दंभ कायरता की देन है और स्वाभिमान का जनक पौरुष है। कायरता जब महिमा–मंडित होने लगती है, तब थोथे अहं का जन्म हो जाया करता है। कुछ पल ऐसे आ जाते हैं जब इस थोथे अहं से मुक्ति मिलती है, तब सड़क पर पड़े सोयाबीन और रहीम मन में अंकुरित हो जाते हैं।

कैसे हो यह कि सोयाबीन की फलियों की मुस्कान न छिने, उनका ऐसा बिछोह ही न हो कि एक फली के दाने खलिहान में ढँके रहें तिरपाल से और दूसरी फली की क़िस्मत में सड़क पर कुचले जाना लिखा हो ?

यह हो पाएगा यदि मनोभूमि पर अंकुरित हुए रहीम को मुरझाने नहीं देंगे। यदि तय कर लिया जाए कि जहाँ–जहाँ भेद हैं, अन्तर हैं, अलगाव हैं उन्हें जन्मने के लिए परिस्थितियाँ ही पैदा नहीं करेंगे, उन्हीं कंठों को प्रतिष्ठा देंगे जो सही अर्थों में बोलने के हक़दार हैं, कोशिश करेंगे कि अपने स्वार्थ की परिधि के बाहर भी निकलकर उस समाज के लिए कुछ

करें, जिसके कारण हमारा अस्तित्व है, चूने तथा हल्दी को मिलाकर प्रीति का अमिट रंग बनाने का यत्न करेंगे, और चंदन बनकर तत्पर होंगे कि चाहे प्रभु के मस्तक पर लगें या किसी दीन भक्त के मस्तक पर, अपनी सुगंध को बरकरार रखेंगे तो निश्चित ही सोयाबीन की नियति ढोते मनुष्य का भाग्य बदलेगा। रहीम के असली कुल का विस्तार होगा। समूची मनुष्यता का गोत्र बढ़ेगा, जिसे देखकर आँखें रहीम के ही शब्दों में सदैव के लिए सुख पाती रहेंगी :

रहिमन यों सुख होत है बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि, आँखिन को सुख होत।।

प्रेम नहीं है तिथिप्रेम

इस बार ऐसा हुआ कि महाशिवरात्रि और वेलेन्टाइन डे दोनों एक साथ पड़े। महाशिवरात्रि का पर्व मनाने की तो आदि परम्परा है लेकिन वेलेन्टाइन डे पिछले तीन–चार सालों से जोर–शोर से मनाया जाने लगा है। यह प्रेम पर्व है जो पश्चिम में मनाया जाता है। कथाएँ हैं, कहते हैं वेलेन्टाइन नाम के मध्ययुग में एक सन्त थे जिन्होंने अपने राजा के इस आदेश को तोड़कर अनेक विवाह कराए कि कोई सरकारी कर्मचारी शादी नहीं कर सकता। एक और कथा है कि एक गुलाम था वेलेन्टाइन जो अपनी अंधी रानी की सेवा करते–करते उसके प्रेम में पागल हो गया। उसकी सेवा के कारण रानी की आँखों में तो ज्योति लौट आई पर उस गुलाम को अपनी आँखें गँवानी पड़ीं। उसे अंधा कर दिया गया। प्रेम में व्यक्ति अंधा हो जाता है यह कहावत प्रसिद्ध है। पश्चिम और पूरब में यह अन्तर है कि पश्चिम में प्रेमी को अंधा कर दिया जाता है जबकि हमारे यहाँ व्यक्ति खुद अंधत्व का वरण कर लेता है। बिल्वमंगल की कहानी मशहूर है। यह भी कहा जाता है कि बिल्वमंगल कोई और नहीं सूरदास ही थे। अपनी प्रेमिका के विरह में उन्होंने जलती सलाखों को अपनी आँखों में धँसाकर खुद को अंधा बना लिया था। एक गांधारी थी जिसने अपने अंधे पति का अनुसरण करते हुए अपनी आँखों पर सदैव के लिए पट्टी बाँध ली थी। हमारे कथा किंवदंतियों के खजाने में ऐसे जाने कितने चरित्र मौजूद हैं। इनका अनुकरण नहीं किया गया और न ही इनके प्रेम को महिमामण्डित करने की कोई परम्परा विकसित हुई।

पीढ़ी–दर–पीढ़ी स्मृतियों में बसा रहा तो वह प्रेम जो राधा या मीरा का था क्योंकि उस प्रेम में सिर्फ खो देने की चाहत थी, पा लेने का कोई आकांक्षा भाव नहीं था, और खो देने की यह चाहत इतनी तीव्र थी कि इसकी निरन्तरता के कभी खण्डित होने की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। यह खोना रीतना नहीं होता था। अनवरत भरते जाना होता था। अपने आपको हर पल भरते जाने, हर पल खोते जाने, अपने प्रियतम में हर पल खुद को विलीन कर देने और उसको अपनेआपमें विलीन कर लेने की संकल्पशक्ति इतनी प्रबल होती कि देह राग में ढलकर निरन्तर ध्वनित होती रहती। हमारे यहाँ प्रेम के संगीत से कागजों के सफे नहीं गूँजे, समय गूँजा और इसीलिए प्रेम के प्रगट करने का कोई एक दिन निश्चित नहीं हो पाया, हर पल ही पर्व बन गया। शायद यही वजह है कि भारत में कोई प्रेम–पर्व किसी निश्चित तिथि को नहीं मनाया जाता।

शिवरात्रि पर उमा की तपश्चर्या याद आई। पार्वती का यह तप भी इसी तथ्य का साक्षी था कि खुद को खोकर शिव को पा लो। लेकिन इस शिवरात्रि पर भारी भीड़ देखी, कार्ड की दुकानों पर, फूल की दुकानों पर, बग़ीचों में, टेलीफोन के बूथ पर। प्रेम–पर्व का अर्थ अपनी प्रेमिका के सामने अपने प्रेम को प्रग़ट करने तक सीमित हो गया। देखता हूँ कि एक कॉलेज में लड़कियाँ खड़ी हैं और लड़कों में होड़ गुलाब के फूल सुन्दर लड़की को भेंट करने की। हर लड़की के हाथ में गुलाब हैं। एक सुन्दर लड़की के दोनों हाथों में ढेरों गुलाब हैं और वह

फूली नहीं समा रही। यह प्रेम नहीं है, प्रेम के नाम पर किया जाने वाला अभिनय है जिसे परदा गिरते ही खत्म हो जाना है।

मेरा यह सोच दकियानूसी कहा जा सकता है। कहा जाए लेकिन इस प्रेम–पर्व की क्षणिकता का, इसके अभिनय का प्रतिकार इसलिए होना चाहिए क्योंकि यह हमारे परिवेश और हमारे जातीय मूल्यों के लिए बेहद घातक है। यदि हमारे यहाँ के प्रेम में समाए समर्पण और उसमें निहित सघनता का विस्थापन इस प्रेम–पर्व पर प्रदर्शित किए जाने वाले प्रेम से हुआ तो फिर इस देश में प्यार के घने और अडिग शाल–वृक्ष नहीं दिखाई पड़ेंगे, इनकी जगह वे छोटे–छोटे अनाम पौधे दीख पड़ेंगे जिनकी कमज़ोर डालियों पर उदासी लिए हल्के पीले फूल एक दिन के लिए खिलते हैं और दूसरे दिन न पौधे का अस्तित्व रहता है न फूलों का। प्रेम में बसे जिस समर्पण भाव ने हमें दृढ़ता से जोड़ रखा है वह तिरोहित हो जाएगा और वह विरासत बिखर जाएगी जिसके बूते पर हमारे समाज की संरचना जीवित है। पश्चिम के सारे विचार, अनुसन्धान और उपकरण स्वागतेय हैं जो हमारी जड़ता को तोड़ते हैं, हमें आगे बढाते हैं लेकिन यह नकल कदापि स्वीकार्य नहीं है जो हमारी दृढ़ता आधार पर ही आघात करती है।

पार्वती, राधा और मीरा हमारे प्रेम की आधारशिलाएँ हैं। कहा जाएगा कि क्या इस देश में दैहिक प्रेम है ही नहीं ? क्या यहाँ खजुराहो नहीं, कोणार्क नहीं, कोका पंडित और वात्स्यायन नहीं, कालिदास, बिहारी, केशव और मतिराम नहीं, राजपूत शैली के सहवास को उकेरने वाले लघुचित्र नहीं, वारांगनाओं औरदेवदासियों की परम्परा नहीं, आम्रपाली नहीं, ययाति नहीं, और भी जो बहुत कुछ दैहिक प्रेम के संबंध में है क्या वह सब कुछ नहीं है ? मगर सिर्फ वही नहीं है, उसकी संगति भारतीय मानस ने स्थापित कर रखी है प्रेम के समर्पण भाव से। जहाँ केवल देह है वहाँ राग नहीं है और जहाँ राग है वहाँ देह की आसक्ति नहीं है। इस देश में आसक्ति और प्रेम दोनों में भेद किया गया है। आसक्ति आकर्षण है और प्रेम समर्पण। आकर्षण को चुक जाना है और समर्पण को अशेष बने रहना है। अकेले आकर्षण को धुरी बनाकर प्रेम अपना अस्तित्व कायम नहीं रख पाया।

प्रेम के दर्शन के बारे में बहुत कुछ लिखा जा सकता है, कहा जा सकता है मगर वेलेन्टाइन को यदि याद करना है तो उसे वसन्त से जोड़कर याद करें। ऋतुराज वसन्त जब आता है तो उसके आँचल में प्यार की केशरिया सौगात छुपी होती है जिसे वह पूरी उन्मुक्तता के साथ धरती के कण–कण में बिखेर देता है। वसन्त की यह केशरिया सौगात, वेलेन्टाइन डे पर दी जा सकने वाली प्यार की सच्ची सौग़ात है। यह सौगात हर प्रेमी के द्वारा, हर प्रेमिका को दी जा सकती है, हर उस आत्मीय को दी जा सकती है जिससे नेह के अटूट रिश्ते में बँधे हैं। यह सौगात वसन्त के हर प्रतीक के माध्यम से दी जा सकती है चाहे वह आम्र मंजरी हो या पलाश की पाँखुरी। वसन्त के ये सारे प्रतीक प्रेम के प्रतिनिधि प्रतीक हैं।

इस देश की धरती पर वसन्त में, वसन्त को भुलाकर वेलेन्टाइन डे की अगवानी नहीं की जा सकती। वसन्त जो इस धरती के पोर–पोर में बसा है, हर मन में रचा है उसे

प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। वेलेन्टाइन डे हमारी उत्सव–प्रिय मानसिकता भले स्वीकार ले, वह हमारी उत्सवधर्मी परम्परा को जिसकी अपनी वैज्ञानिक और सांस्कृतिक दृष्टि है, स्वीकार्य नहीं है।

शिव सिर्फ कैलाशपति, वरदान देने वाले, भोले भण्डारी भगवान या ताण्डव नर्तन कर संकार की सृष्टि कर देने वाले चमत्कारिक आराध्य मात्र नहीं हैं। शिवत्व कहीं सौन्दर्य को भी परिभाषित करता है। सत्य, शिव और सुन्दर अलग–अलग भी हैं और एक–दूसरे में समाए हुए भी। इसलिए इस देश का कवि जब कभी सौन्दर्य के उपमान ढूँढ़ता है तो उसे जटाशंकर बरबस दिखते हैं। उसकी सारी चेतना शिव में समाए इसी सौन्दर्य में अपने को और अपने सब कुछ को परिभाषित होते देखती है।

प्रेमशंकर रघुवंशी का यह पचमढ़ी के संदर्भ में लिखा गया प्रेमगीत इसी तथ्य का साक्षी है कि सुन्दरता के प्राण शिवत्व में बसा करते हैं। प्यार की सारी निश्छल आकुलता और रससिक्तता प्रकृति के उपादानों के जरिए भी अभिव्यक्त की जा सकती है। इस गीत में प्रकृति के सारे उपादान जीवन्त देह बन गए हैं, चाहे वह देनवा की धार हो, नीलगिरि के झुरमुट हों या टकटकी लगाकर प्रणय को घूरती घाटियाँ। प्यार की यह देशज अभिव्यक्ति तभी संभव है जब प्रेम का पर्व हर पल मनाए जाने की कामना मन में हो, कोई निश्चित तिथि तय न हो प्रेम–पर्व मनाने की। प्रेम तो हो जाता है फिर उसका गोपन बने रहना उसे पल्लवित करता है, प्रेरित करता है कि वह बना रहे, तिरोहित न हो कभी। इसी भाव के कारण प्रेम को व्यक्त करने की कोई निश्चित तिथि इस देश में नहीं है और यह प्रेमगीत यही सिद्ध भी करता है। मेरे सर्वाधिक प्रिय गीतों में से एक यह गीत इस तरह :

तुम कि जैसे
धूपगढ़ की सुबह
बहती देनवा की धार।
पचमढ़ी के
किसी झरने सी बहकती
या कि रिसती
एकदम शीतल
फुरहरी–सी उठाती
जटाशंकर के गले का हार।
अब तुम्हें फैले हुए इन
आम्रवन की वीथियों में ले चलूँ या
सिर हिलाकर बुलाते
उन नीलगिरि की गौरवर्णी झुरमुटों में
याकि सौ सौ सीटियाँ देते हुए
उन बँसवटों के पार।।

टकटकी हम पर लगाये
घूरती सब घाटियाँ
चलो जल्दी – और जल्दी – और जल्दी–
अब किसी भी छाँह वाले मोड़ पर हम
खोल कर रख दें
रूमालों में बँधा यह प्यार।।

तुम कि जैसे.............

अनुराग, विराग

मेरी पहली पुस्तक प्रकाशित हुई तो मेरे विभाग के आत्मीय मित्रों ने बड़े मन से एक राधा–कृष्ण का मनोरम शिल्प मुझे भेंट में दिया। मेरे राधा–माधव के प्रीतिभाव के प्रति आसक्ति देखकर दी गई आत्मीय भेंट है यह। बड़ी मनभावन प्रणय मुद्रा है राधा–कृष्ण की। दोनो गलबहियाँ डाले हैं। कृष्ण एकटक राधा की आँखों में आँखें डाल अपने आपको राधा में विलय करने को आतुर हैं और राधा का समर्पण अंग अंग से छलका पड़ रहा है। इन दोनों के निश्छल और स्निग्ध प्रेम के जिस भाव का स्मरण कर रोम–रोम रोमांचित हो उठता है, वही भाव इस शिल्प में प्राण पा गया है। मैंने बरसों से, बड़े जतन से इस शिल्प को सहेज रखा है।

पिछले साल नेपाल जाना हुआ तो छोटे–छोटे बुद्ध के दो शिल्प खरीद लाया। अलग अलग मुद्राएँ हैं ध्यानस्थ बुद्ध की। इन्हें देखकर लगता है बुद्धत्व मानो इनमें जीवन्त हो उठा हो। हल्का–सा स्मित तैर रहा है ओठों पर, बड़ी–बड़ी करुणा से भरपूर आँखों, चेहरे पर अद्भुत कान्ति, विराग–भाव का साक्षात होता है इन दोनों शिल्पों को देखकर।

संयोग ऐसा कि एक ही मेज़ पर ये तीनों शिल्प रखे हैं, प्रणयरत राधा–माधव और दो भिन्न ध्यानस्थ मुद्राओं वाले विरागी बुद्ध। अद्भुत दृश्य है, अनुराग और विराग के चरम का। विचार आता है क्या दोनों महाभाव एक–दूसरे के विरोधी हैं ? पूरक हैं ? या दोनो में कोई अन्तर नहीं ? हम लोग अमूमन अनुराग और विराग को एक–दूसरे का परस्पर विरोधी मानते हैं। अनुराग का अर्थ आसक्ति के रूप में, जुड़े रहने के रूप में, एक–दूसरे के प्रति समर्पित बने रहने के रूप में और विराग का अर्थ लेते हैं, मुक्ति के रूप में, संसार की निस्सारता के रूप में, संन्यासी हो जाने के रूप में। यही अर्थ एक–दूसरे को विरोधी रूप में मान्यता देता आया है। लेकिन इन शिल्पों को निहारता हूँ तो लगता है जो आर्द्रता बुद्ध के अधमुँदे नेत्रों में है, वही तरलता तो राधा–माधव की आँखों में भी है। एक–दूसरे के गले में बाँहें डाले जो हल्की मुस्कान राधा–कृष्ण की इनके मुखों पर तैर रही है, वैसा ही स्मित तोबुद्ध के ओठों पर भी है। जिस कान्ति से बुद्ध दमक रहे हैं, वही कान्ति तो राधामाधव के इस युगल की शोभा बनी हुई है। तो फिर यह साम्य है या विरोध ? अन्तर सिर्फ इतना है कि राधा और माधव दो दीख पड़ रहे हैं और बुद्ध एकाकी। मुझे लगता है यही विरोध का कारण है। इस दृश्य में कृष्ण में समाया राधा भाव दैहिक रूप में अलग दिखता है जबकि बुद्ध में समाया राधा भाव उनके अन्तस् में है। भाव में जब कभी देह हो जाता है तो ऐसे भ्रम भी होते हैं।

दरअसल अनुराग और विराग की स्थूल व्यंजना ही यह भ्रम पैदा करती है। हमारे यहाँ के एक क्रांतिकारी दार्शनिक ने तो और आगे जाकर रति की चरम अवस्था और समाधि में कोई अन्तर तक नहीं माना, अपने वाणी वशीकरण से अनुराग और विराग के सार्थक भाव को ही तिरोहित कर दिया। वे बेहद लोकप्रिय हुए, उनका यह विचार बड़ा मौलिक माना गया क्योंकि इसमें अपने स्वाभाविक संयम को लाँघने के औचित्य को सिद्ध किया गया था और वह

विचार स्वच्छंदता को विकृति की सीमा तक उसे क्रियान्वित करने की स्वतंत्रता देता था मगर यह विचार, यह स्थापना क्षणिक ही सिद्ध हुई। इसका हश्र भी बौद्धों के सहजयान और वज्रयान की तरह हो गया। यह अनुराग और विराग की संकीर्ण व्यंजना में जाने का परिणामथा।

यह सही है कि दोनों भावों की प्रतीति, अनुभव, अनुभूति मन, मानस के धरातल पर बिल्कुल अलग तरह की होती है लेकिन इस अनुभव के मूल में रहता है आकर्षण। आकर्षण, मुक्त हो जाने की लालसा का हो या किसी को अपने आपमें पूरी तरह विलय कर लेने का, होता अन्ततः आकर्षण ही है। यही आकर्षण संन्यासी को हिमालय की कंदरा में खींच ले जाता है और किसी को तमाल के निकुंजों में।

'गीतगोविन्द' जो जयदेव का सुप्रसिद्ध काव्य–ग्रन्थ है, उसके मंगल श्लोक पर आधारित राजस्थान और पहाड़ की विभिन्न शैलियों में जाने कितने लघुचित्र बने। इस मंगल श्लोक में नंद राधा से कह रहे हैं कि यह जो कृष्ण है, भीरु है, रात गहरा गई है, रास्ता भूल जाएगा घर का, इसे तुम इसके घर पहुँचा दो और राधा कृष्ण को लेकर चल पड़ती हैं। मेवाड़ कलम के एक लघुचित्र में नंद हैं, राधा हैं और छोटे–से कृष्ण हैं लेकिन जैसे–जैसे राधा आगे बढ़ती हैं, कृष्ण का कद बढ़ने लगता है, दोनों एक जैसे क़द के हो जाते हैं और फिर दोनों तमाल के निकुंजों में खो जाते हैं।

लेकिन एक लघुचित्र इसी मंगल श्लोक पर आधारित है, एक अछूती खानदेशी लोकशैली में बनाया गया लघुचित्र, जिसे मैं 'कान्हेरी' शैली कहता हूँ। अद्भुत है यह लघुचित्र, इसमें केवल नंद हैं और राधा हैं। नंद निदेश दे रहे हैं राधा को कि तुम इस भीरु बालकृष्ण को इसके घर छोड़ आओ और इस चित्र में कहीं कृष्ण हैं ही नहीं। तो फिर यह कृष्ण हैं कहाँ ? यह कृष्ण राधा के मन में हैं, नंद का निदेश है जाओ राधा, अपने मन में समाए कृष्ण को उसके घर तक छोड़ो। यह राधा, यह कृष्ण को अपने आपमें समेटे राधा, एक है या दो या दो होकर भी एक है ? यह राधा तो एक ही है। मुझे लगता है कान्हेरी कलम से रची गई इस राधा में सच्चा बुद्धत्व समाया है। यह अपने अन्तर में, मन में अनुराग के कृष्ण को समेटे खड़ी है। नेपाल से लाए बुद्ध भी तो ऐसे ही हैं जिनके अन्तस् में विराग के माधव समाए हैं। अनुराग और विराग दोनों ही तो कृष्ण हैं। एक के मन में वे अनुराग भाव के रूप में पैठ गए हैं और दूसरे के मन में विराग के भाव रूप में और इसीलिए जो राधा–माधव के युगल की भंगिमाओं में और ध्यानस्थ बुद्ध की भंगिमा में साम्य दीखता है वह बड़ा स्वाभाविक है। कृष्ण यहाँ संज्ञा नहीं रह गए, भाव हो गए, धरातल अलग हैं अनुभूति के प्रतीति के मगर धुरी जो आकर्षण की है वह एक है। आकर्षण चाहे विराग का हो या अनुराग का होता अंतिम रूप से आकर्षण है। रागात्मकता तो दोनों में विद्यमान है। विराग में भी राग है और अनुराग में भी। जब तक जीवन है, तब तक राग है, लय है, विभोर हो उठने की गीतात्मकता है, तन्मय हो कहीं समा जाने की भावना है, एक गति है जो स्थिर नहीं रहने देती। बुद्ध का विराग स्थिर वैराग्य नहीं है। इस वैराग्य में राग है, लयात्मकता है, गति है, तन्मयता है। बुद्धत्व सच्चे कृष्णत्व का रूपांतरण है।

अनुराग और विराग दोनों एक दूसरे से अटूट रूप से बँधे हैं। अलग कर लेते हैं तो – संन्यासी सिर्फ संन्यासी दिखाई देता है और कृष्ण केवल राधावल्लभ कृष्ण। यह दृष्टि की संकीर्णता है। उदात्त चेतना से निहारने पर प्रतीति के धरातल भिन्न हो सकते हैं लेकिन इनके मूल में एक ही भाव है और वह है विलय का, समर्पण का, और फिर विलय होकर एक निस्सीम अनुभव को आत्मसात कर निस्पृह हो जाने का। हममें से हरेक अनुरागी भी है, विरागी भी। हम बुद्ध नहीं हैं, कृष्ण नहीं हैं, राधा के उस महाभाव को आत्मसात कर लेने वाले भी नहीं हैं लेकिन मनुष्य हैं और इसीलिए मनुष्य हैं क्योंकि मनुष्य के पास ही उस सम्पन्न चेतना का धरातल है जिस पर अनुराग और विराग के अंकुर फूटते हैं।

संन्यासी न बने रहें, कृष्णा न हो पाएँ सिर्फ संन्यासी न बनें सिर्फ मनुष्य बने रहें, कृष्ण न हो पाएँ केवल कृष्णत्व को समझ लेने का यत्न कर लें, राधा जैसा समर्पण भाव न पा सकें लेकिन उस भाव में डूब लेने की कोशिश भर कर लें तो वह चेतना विकसित हो सकती है जो दृष्टि को उदार बना देती है।

बुद्ध हों या कृष्ण दोनों ही उदात्त, तरल और सम्पन्न चेतना के प्रतिनिधि हैं। दोनों में राग का उत्कर्ष है। राग के इस उत्कर्ष में अनुराग और विराग दोनों निहित हैं। आज इसी चेतना की, इसके निरन्तर विकसित करने की ज़रूरत इसलिए आ पड़ी है क्योंकि अनुराग और विराग के नाम पर जाने कितने छद्म और पाखण्ड जन्म गए हैं। इनसे मुक्ति चाहिए, उपयोगितावादी दृष्टि से, संकरे व्यवहार से, दोहरे आचरण से मुक्ति चाहिए, उन अवरोधों से मुक्ति चाहिए जिनके कारण विकास अवरुद्ध हो जाता है।

आज बुद्ध के विराग–भरे अनुराग और कृष्ण के अनुराग–भरे विराग को आत्मसात् कर लेने की सही घड़ी आ गई है। इसी घड़ी की सार्थकता में अगली सदी के उज्ज्वल भविष्य की असीम संभावनाएँ छुपी हैं और अगली पीढ़ियों का अस्तित्व इन्हीं संभावनाओं की आकुलता से बाट जोह रहा है।

साधु कौन ?

आज के अख़बार में फिर ख़बर है कि एक साधु जो मंदिर में ठहरे थे और जो बालक–बालिकाओं को धार्मिक संस्कारों की दीक्षा देते थे, वे मासूम बच्चियों के साथ अश्लील हरकतें करते हुए रंगे हाथों पकड़े गए, उन्हें थाने तक भीड़ घेरकर लाई, उन्हें गिरफ्तार किया गया। सारे समाज में इस घटना को लेकर तीव्र आक्रोश व्याप्त है।

यह पहली ख़बर नहीं है। साधु वेष में ऐसी शैतानी हरकतों के किस्से अब आम हो चले। ऐसा नहीं है कि पहले ऐसे किस्से नहीं थे। थे। ऐसा भी नहीं कि समाज अपना आक्रोश ज़ाहिर न करता रहा हो। करता रहा है। ऐसा भी नहीं कि ऐसे कृत्य करने वालों की संख्या में कमी आई हो। कमी नहीं आई तो फिर क्या कारण है कि ऐसी घटनाएँ थमतीं नहीं ?

कहा जाएगा कि इतना बड़ा संसार है, तरह–तरह के लोग हैं, इतना पाखण्ड व्याप्त है, किसी की वेषभूषा से ही उसकी पहचान बनती है तो फिर यह कैसे संभव है कि ऐसी घटनाएँ रोकी जा सकें। यह भी कहा जाता है कि नैतिकता रसातल में चली गई, पाप बढ़ गए, हमारे मूल्य विलुप्त हो गए तो ऐसा होना ही है। वर्तमान को कोसा जाएगा, अतीत की दुहाई दी जाएगी, तंत्र की आलोचना होगी और वह सब कुछ होगा जिसकी जरूरत नहीं है और वह बिल्कुल नहीं होगा जो ज़रूरी है।

ज़रूरी यह है कि यह विचार हो कि व्यक्ति साधु बनता ही क्यों है ? फिर यदि साधु बनता है तो उसे हम क्यों उसकी वेषभूषा को महत्त्व देते हुए उसे पवित्र मान लेते हैं ?

मूलतः साधु बनकर उसे उस रूप में प्रदर्शित करना ही कहीं कृत्रिम है। साधु का सीधा–सादा अर्थ है वह जो साध ले अपने आपको, सन्तुलित कर ले खुद को। वाल्मीकि, कबीर, तुलसी से लेकर महात्मा गांधी तक जिन्हें हम भली–भाँति जानते हैं वे साधु ही थे। और भी हमारे समृद्ध इतिहास में सैकड़ों नाम हैं जिन्होंने अपने समय में अपने आपको साधा, राम और कृष्ण जैसे अवतार पुरुषों से लेकर बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य और विवेकानन्द तक एक लम्बी परम्परा चली आई है। ये सारे नाम ऐसे हैं जो वास्तव में साधु हैं लेकिन जिन्हें उनकी वेषभूषा के कारण नहीं जाना जाता, उज्ज्वल कृतित्व के कारण जाना जाता है। आधुनिक युग में बाबू राजेन्द्रप्रसाद को साधु कहा जाता रहा। हमारे आसपास के फैले समाज में जाने ऐसे कितने व्यक्तित्व हैं जिनकी प्रसिद्धि भले न हो लेकिन जो अपने सहज, पारदर्शी और कर्मण्य आचरण के कारण साधु पुरुष कहे जाते हैं। इनकी कोई साधु जैसी वेषभूषा नहीं होती। ये अपनी साधना के कारण साधु हैं। जो व्यक्ति सायास साधु बनने का पाखण्ड रचता है और मान्यता समाज से पा लेता है, वही विचलित होकर ऐसे अशोभन कृत्य करता है। साधु तो स्वयमेव अपने आपको साध लेने से, इस साध लेने की साधना कर लेने से हो जाना होता है, उसके लिए प्रयत्न करना ज़रूरी नहीं होता।

कोई भी धर्म जब कर्म का निषेध नहीं करता तो फिर अकर्मण्य लोग साधु के वेष को धारण कर समाज में मान्यता क्यों पा जाते हैं ? इस प्रश्न पर विचार नहीं किया जाता। हर धर्म में विधान रच दिए गए हैं और इन विधानों में साधु के रहनसहन को भी वर्णित कर दिया गया है, इसी का फायदा समाज के अकर्मण्य और लोलुप लोग उठा रहे हैं और साधु बनकर समाज में प्रदूषण फैला रहे हैं।

व्यक्ति साधु बन जाता है, बन जाने के कई कारण होते हैं। एक आवेग जो बहा ले जाता है व्यक्ति को और वह व्यक्ति साधु बन जाता है। एक अकर्मण्य भाव साधु वेष के कारण पूजा जाने लगता है, यह बिना कुछ किए पूजे जाने की लिप्सा साधु बना देती है। साधु वे भी बन जाते हैं जो अपने समय और परिस्थिति से लड़ नहीं पाते, उनकी यह पौरुषहीनता उन्हें पलायनवादी बनाकर साधु के रूप में छोड़ देती है। इस तरह के साधु, साधु हैं कहाँ ? वे अपनी अपनी विवशताओं के कारण साधु बने हुए हैं। साधु समाज में पूजनीय है तो उसका एक मात्र कारण समाज की आस्था है। यह आस्था जब इतनी घनी हो जाए कि वह व्यक्ति और वेष में भेद न कर सके तो फिर वेष पूजा जाने लगता है, उस वेष के पीछे छुपे व्यक्ति की पहचान नहीं हो पाती। यह वेष छलता आया है समाज को फिर वह समाज चाहे जिस जाति का हो, धर्म का हो। इस मान्यता ने भी बड़ा अहित किया कि जो विरागी हो वह साधु होता है और विरागी होने के लिए वैराग्य धारण करने की एक अवधारणा बनी। जिनकी एक विशिष्ट वेषभूषा हो गई, जीवनचर्या हो गई वे विरागी माने जाने लगे। जबकि वैराग्य तो स्वतः जन्म जाता है मन में और कहीं गहरे देखें तो विराग भाव में एक असीम रागात्मकता समाई होती है। 'राग' अनुराग में भी है और विराग में भी। विराग के मायने कभी राग से दूर होने के नहीं होते। निस्पृह होना, विरागी होना, सरल और निष्कलुष होना मनुष्य के निरन्तर विकसित होने की सीढ़ियाँ हैं। ये किसी वेष विशेष की मोहताज़ नहीं हैं। जो व्यक्ति अपने और सामाजिक व्यवहारों के बीच बिना किसी वेष विशेष को धारण किए अपना सहज दायित्व सांसारिकता के बीच निभाता रहता है और अपने आसपास के सरोकारों से जुड़ा रहकर अपनी वैयक्तिकता के घेरे को तोड़कर अपने विकास में से समाज को भी सहभागी बनाना चाहता है, वह साधु है।

ऐसे साधु ही समाज को स्वीकार्य होने चाहिए किन्तु ऐसे व्यक्ति सिर्फ सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक मान लिए जाते हैं और उनका सृजन कर्म इन्हीं धारणाओं के चौखटों में रखकर देखा जाने लगता है। कबीर इसीलिए कहते थे "जात न पूछो साधु की"। इसलिए जाति मत पूछो क्योंकि साधु किसी जाति विशेष का होता ही नहीं, वह तो सिर्फ सच्चा मनुष्य–भर होता है।

आज जिन्हें साधु के रूप में जाना जाता है वे न तो निस्पृह हैं, न विरागी, न पारदर्शी और न निस्वार्थी। ज़्यादातर अपने अपने स्वार्थ के कारण साधु हैं। जो हैं वे या तो समाज के ही बीच में हैं या ऐसे स्थानों पर हैं जहाँ उन्हें सच्चे साधु समाज देख न सके। इस तरह के साधुओं को कोई चाह ही नहीं होती कि कोई उन्हें देखे, उनके गुणगान करे, उनसे किन्हीं चमत्कारों की अपेक्षा करे।

आज समाज की मुश्किल यह हो गई कि वह चमत्कार की लालसा में फंस गया और इस लालसा से मुक्त होने के लिए भी वह चमत्कार की ओर ही देखता है। तपस्वी, मनस्वी और साधु के भेद की उसने परवाह नहीं पाली। कहीं वह वाणी के वशीकरण से वशीभूत हुआ तो कहीं पण्डालों की चमक से अभिभूत हुआ तो कहीं कीर्तन की लय के सागर में अपने आपको डुबोकर द्रवीभूत हो अपना अस्तित्व ही खो बैठा। समाज का मानस जब कभी इतना परतंत्र और विवश हो जाता है तब ये छद्म साधु अपना व्यवसाय रातों–रात बढ़ा लिया करते हैं। यह सामाजिक दृष्टिकी विपन्नता का द्योतक है। प्रखर अन्तर्दृष्टि रखने वाला समाज सच्चे साधु की पहचान करने की सामर्थ्य रखता है। वह पहचान लेता है रुनकता के सूने कुटीर में अपनी अंधी आँखों से कृष्ण को निहारने वाले सूर को, अयोध्या के अनजान से मंदिर में रामायण को रचते तुलसी और तमाम आडम्बरों पर प्रहार करते जुलाहे कबीर को। कहा जा सकता है कि आज तुलसी, कबीर और सूर ही नहीं हैं तो पहचानें किसे? आज भी हैं ऐसे ही व्यक्तित्व लेकिन अजाने हैं। वे शायद आने वाली दो–तीन पीढ़ियों के बाद जाने जाएँ। आज अन्तर्दृष्टि नहीं है जो सच्चे साधु की पहचान कर सके। सच्चे साधु की पहचान न वेष से होती है, न उसके दिखाए चमत्कारों से, न शिष्यों की जमात से, न प्रवचन, पंडाल से न सिर्फ बाहरी आँखों के निहारने से, उसकी पहचान सिर्फ अन्तर की आँखों से होती है।

समय तेज़ी से बदल रहा है, भविष्य में और तेज़ी से बदलेगा, इस निरन्तर और तेज़ी से बदलते समय के अनुरूप क्या सोच भी बदल रहा हैं ? शायद नहीं और इसीलिए साधु की पहचान नहीं हो पा रही। आने वाली सदी के अनुरूप समाज के सोच के बदले जाने की आवश्यकता है। आस्था के जिस अंधे समुद्र डूबकर, बिना पहचाने जिन तथाकथित ढोंगी साधुओं को मान्यता दी जा रही है, पूजा जा रहा है वह एक जड़ चिन्तन की परिणति है। ये तथाकथित ढोंगी साधु उस थमे हुए चिन्तन सरोवर में उगे हुए शैवाल हैं जिसका प्रवाह शेष नहीं रहा। चिन्तन प्रवहमान हो तो इस तरह के छद्म साधु जन्में ही नहीं।

समय के साथ–साथ सोच चले और गतिशील वैज्ञानिक सोच के अनुरूप समाज अपनी दिशा तय करने लगे तो अन्तर्दृष्टि विकसित हो सकती है।

समाज की आज सबसे बड़ी आवश्यकता सच्चे साधु हैं। ऐसे साधु जो हर क्षेत्र में हों, सिर्फ नदियों के किनारों पर, मठों और मंदिरों में न हों। बल्कि वहाँ न हों, समाज के बीच हों।

यदि ऐसे साधु जन्म पाए तो फिर गंगा, कावेरी और नर्मदा समाज के बीच से फूट पड़ेंगी एक बार और। उनका यह पुनः फूटना निर्माण के नए तीर्थ निर्मित करेगा, निष्कलुष मनुष्यता की जीवन्त मूर्ति की इन तीर्थों में प्राण–प्रतिष्ठा करेगा, फिर अलग से किसी वेष में साधु नहीं होंगे। समूचा समाज ही साधु होगा।

ड्राइंग रूम की कारा

ड्राइंग रूम है सजा हुआ। बड़ी पेन्टिंग्स, लकड़ी के लोकशिल्प, लेमीनेटेड फोटोग्राफ्स, गमले फूलों वाले, सुन्दर कशीदे वाला कालीन, बढ़िया सागौन की लकड़ी वाला बड़ा–सा सोफा, तख्त, एक–से रंगों वाले परदे, उसी तरह के रंग से पुती दीवार और कुछ सम्मान में मिले स्मृतिचिन्ह, मानपत्र, चमकीली नक्काशीदार घड़ी और फानूस। पहली नज़र में इतना कुछ ही दीखता है, ड्राइंग रूम में घुसने पर। इन सबको देखने में वक़्त लगता है फिर जिसके घर आए उससे मुखातिब होते हैं।

एक सुसंस्कृत व्यक्ति के घर का ड्राइंग रूम उसकी अपनी अभिरुचि का प्रतिबिम्ब है। इस पर क्या आपत्ति हो सकती है, आपत्ति यही है कि ऐसे ड्राइंग रूम इस देश में कितने हैं ? और ऐसे कितने सुसंस्कृत हैं, जिनके पास ऐसे ड्राइंग रूम नहीं हैं ?

हमारे देश में यह एक भारी विडम्बना है कि यहाँ जो सुसंस्कृत हैं, उनमें से ज़्यादातर लोगों के पास रहने भर की जगह है, ड्राइंग रूम उनके लिए सपने हैं और इन सुसंस्कृतों की यह नियति है कि वे असंस्कृतों के ड्राइंग रूम सजाने का कार्य करते हैं। शायद यही हमारी संस्कृति हो गई, कि असंस्कृतों की साज–सज्जा सुसंस्कृत करने लगे, पहले जो सुंस्कृत थे वे साज–सज्जा नहीं करते थे, संस्कारित करते थे। संस्कार मानस का होता है, आचरण और जीवन–शैली का होता है जबकि साज–सज्जा सिर्फ भवन की या देह की।

विडम्बना यह भी है कि अब समृद्ध सुसंस्कृत अपने ड्राइंग रूम भी निर्धन सुसंस्कृतों से सजवा लेते हैं। यह एक किस्म का प्रदर्शन है, जो यह सिद्ध करने की कोशिश करता है, कि यह सुरुचि है, जो हमारे वैभव की प्रतीक नहीं, हमारे सौन्दर्यबोध की परिचायक है।

वास्तविकता तो यही है कि यह प्रदर्शन एक मानसिक ग्रन्थि की अभिव्यक्ति है। सांस्कृतिक होने से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण सांस्कारिक होना है। संस्कार कुछ तो जन्मसे मिलते हैं, कुछ परिवेश से, अध्ययन से अपनी मानसिक जागरूकता से और यह तथाकथित सांस्कृतिक प्रदर्शन आता है समृद्धि से, वैभव से, पद के आभिजात्य और मन में समाए एक प्रकार की अकुलाहट से। यह आकुलता चाहती है कि ड्राइंग रूम हमारे व्यक्तित्व के बारे में बता दे, फिर बैठने वाला कुछ कुरेदे और हम तब धारा प्रवाह अपनी उपलब्धियों का गरिमामय अतिरंजित आख्यान करने लगें। ऐसे सुसज्जित ड्राइंग रूम हमारे तथाकथित सुसंस्कृत आभिजात्य की अभिव्यक्ति मात्र हैं। यह मानसिकता ही ऐसी है। मेरा अपना ड्राइंग रूम भी ऐसा ही है। तब क्यों मैं इन ड्राइंग रूम्स की आलोचना करता हूँ ? इसलिए कि मन में अन्तद्वंद्व है। चाहता भी हूँ कि निस्संग रह पाऊँ और यह भी चाहता हूँ कि अपने बारे में अपना ड्राइंग रूम कुछ कहे, फिर मैं कहने लगूँ।

दोहरेपन में जीते–जीते ऐसी मानसिकता बन गई। दोहरा चिन्तन, दोहरे जीने के मानदण्ड, दोहरा आचरण और दोहरे विचार। यह दुहराव एक सुविधा देता है। यह सुविधा देता है अवसरवादिता की। इस दुहराव के सहारे दोनों ध्रुव विरोधी छोरों को साधा जा सकता है

इसलिए यह मानसिकता हमें बड़ा सन्तुष्ट भी रखती है। क्या यह मानसिकता अनिवार्य है ? क्या ऐसे दोहरेपन में जीना ज़रूरी है ? यह ज़रूरी नहीं है। इसलिए कि बिना इस दोहरेपन के तनाव को झेले भी यह पारदर्शी जीवन जीया जा सकता है, ज़रूरी सिर्फ इतना है कि सुविधाओं के मोह को त्याग दें। ये मोह इतने बड़े भी नहीं हैं कि इनके पीछे अपनी अस्मिता को सवालों के घेरे में हम खड़ा कर लें। ये बड़े छोटे–छोटे होते हैं, जो तात्कालिकता से जुड़े होते हैं इनका कोई स्थायित्व भी नहीं होता। ये वैभव और सम्पन्नता की कृत्रिम चमक दे सकते हैं, लेकिन स्वाभिमान और सहजता की दमक नहीं दे सकते। रौशनी कृत्रिम होती है और दीप्ति स्वाभाविक। लेकिन मुश्किल यही है इन सुविधाओं को छोड़ पाने का साहस नहीं होता। भीरुता का एक अर्थ यह भी है कि दोहरेपन की कुंठा में जीते–जीते प्रतिपल आशंकित बने रहकर उस शक्ति का संचय न कर पाना, जो निषेध को जन्म देती है। आज निषेध है. विरोध है लेकिन केवल उन अवसरवादी स्वरों में जो – अनुकूल समय आने की बाट जोहते हैं। आज निषेध पुरुष नहीं हैं, जो समय को बदल दें, ऐसे समय को, जो चुनौती देता है मनुष्य के पौरुष को। आज चारों ओर सिर्फ़ निषेध स्वर हैं, निषेध व्यक्तित्व नहीं।

सारी दिशाओं की ओर ताकने के बाद, तमाम तथाकथित कर्मपुरुषों, धर्मपुरुषों के उस आचरण और व्यवहार को देखने के बाद, जो आज मनुष्य को सही दिशा देने का दावा करते हैं, मेरे जैसा और मेरे जैसे अनगिनत यही नतीजा निकालने को मजबूर हैं कि समर्थ होते हुए भी असमर्थता की ऐसी वास्तविकता से शायद पहले कभी रूबरू नहीं हुए, भीरुता ने साहस का ऐसा अभिनय पहले कभी नहीं किया, निर्लज्जता ने कभी ऐसे अपने तटबंध नहीं तोड़े जो आज टूट रहे हैं। यह सब एक गहरे क्षोभ से मन को भरता है, लेकिन फिर इस क्षोभ की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। यदि प्रतिक्रिया होने लगे तो संस्कारित होना शुरू हो, दृढ़ संस्कार ही कुछ बदलने के संकल्प को जन्मेंगे, प्रतिक्रिया हो तो ऐसा नहीं होगा कि विपन्न सुसंस्कृत, सम्पन्न सुसस्कृतों के ड्राइंग रूम सजाएँ, प्रतिक्रिया हो तो मैं यह कोशिश ही न करूँ कि ड्राइंग रूम के मार्फत अपने सुस्कृत होने को मैं परिभाषित कर सकूँ, प्रतिक्रिया हो तो वह पुरुषार्थ पैदा हो, जो समय बदलने वाले निषेध पुरुषों को, चुनौती देते समय के सम्मुख खड़ा कर सके और प्रतिक्रिया हो तो वह बन पाए, जिसे बनाने की चाहत हरेक के मन में है, मगर जो बरस दस बरस बीतने के बाद भी नहीं बन पाता। बिखरी मिट्टी, बिखरी रहती है उससे दीप नहीं गढ़े जाते।

निराला कहते थे कारा तोड़ो, यह वही कारा है जिसमें हम कैद हैं। एक दोहरे जीवन की कारा। यह कारा टूटेगी तो फिर सिर्फ एक ही जीवन होगा, एक ही राग, एक ही लय, एक ही संकल्प और एक ही दिशा। मोह और सुविधाओं की दीवारें तोड़नी होंगी। जीवन, कारा के तोड़ने के लिए है, उसमें बंद रहते हुए कोसते या छटपटाने के लिए नहीं।

परिधि क्या हो सुख की, दुःख की

कई अवसर आए, आते हैं खुशी अनुभव करने के, लेकिन वह सिमटी रहती है मुक्त नहीं हो पाती। क्षणिक होती है, अनुभव हो जाता है, प्रगट भी थोड़ी देर के लिए कुछ इस तरह हो जाती हैं जैसे लाजवंती की छोटी–छोटी हरी पत्तियाँ, कुछ देर को खिलें फिर सिमट जाएँ। लेकिन जब से अनुभव करने की संवेदना विकसित हुई, खुशी का, उल्लास का मुक्त होना बंद हो गया। वह सहज उल्लास प्रगट ही नहीं हो पाता, जो सहज जन्मता है। यह क्या हो गया ? मन भारी, ढोना दिनों को, तनाव में घिरे रहना, दूसरों की खुशी में शरीक होने के नाम पर एक कृत्रिम मुस्कराहट चेहरे पर और फिर लौट आना अपने इकलौते घरौंदे में। तमाम ज़िम्मेवारियाँ निबाहना, ज़माने भर की बेगार करना, बड़ों और छोटों की सुनना और फिर एकदम अकेले हो जाना। यह निजी व्यथा नहीं है। शायद सभी की है, कुछ की कम, कुछ की ज़्यादा लेकिन अनुपातों से उल्लास के कहाँ ग्राफ बन पाए हैं ? उल्लास की अनुभूति के ग्राफ बनना संभव होते तो मनुष्य के नाम पर मनुष्य स्टॉक एक्सचेंज का संवेदी सूचकांक भर रह जाता, मगर ऐसा हो नहीं सकता। मनुष्य को मनुष्य बने रहना है और स्टॉक एक्सचेंज नहीं बनना, तो उसे ग्राफ के जाल से मुक्त होना पड़ेगा। ग्राफ बाँधते हैं, रेखा कितनी आगे बढ़ी, फिर कितनी पीछे लौटकर, कितनी और ऊपर की ओर चली यही देखते–देखते मन बँधता है, दृष्टि बँधती है। रेखाओं की गत्यात्मकता से मनुष्य की गति का कहीं तादात्म्य ही नहीं। जो ग्राफ की चढ़ती–उतरती रेखाओं में अपना अतीत, वर्तमान और भविष्य देखने की कोशिश करते हैं, वे मनुष्य नहीं सूचकांक हैं। और सूचकांक सूचित भर करते हैं, संसूचित नहीं करते। सूचित करना, संसूचित करने से भिन्न है। संसूचित करना वह है, जो सन्देश को मन की मानस की गहराइयों तक पहुँचा जाए और कुछ करने को तत्पर कर दे और सूचित करना तो सिर्फ स्पर्श मात्र है। खबर मिली उसका क्षणिक प्रभाव रहा फिर वह तिरोहित हो गया। हमारा आज का सारापरिदृश्य सिर्फ सूचनाओं का है। सूचना देना, सूचना पाना, सूचना संकलित करना। संसूचना तो है ही नहीं। जानकारियों के भरोसे, भरोसा पुष्ट नहीं होगा। विश्वास चाहे जो हो, पुष्ट तभी होगा जब वह भूमि सिंचित होगी जिस पर वह पल्लवित हो रहा है। संसूचना एक रचना है जबकि सूचना रेखाओं का ऐसा संग्रह, जो कोरे पन्नों पर एक के नीचे एक खींच भर दी जाती हैं।

खुशी, उल्लास या हर्ष अपने नैसर्गिक रूप में तब फूटता है जब मन सूचित नही संसूचित हो। शायद जब से बचपन बीता और शैशव की अबोध और निश्छल संवेदना से बिदा ली उसी समय से कोई पल ऐसा बीता नहीं, जो मन को इतना भर देता उल्लास से कि वह छलकने लगता, मन की गागर से छलकन फिसलती और बिछ जाती कोने–कोने में, या तो उल्लसित हो क़िसी के चरणों में लिपट जाता या सारे बंधनों की औपचारिकता त्यागकर किसी को अंक में भर लेता। शैशव तक जो भरा रहा, छलकता रहा वह फिर जो रीतना शुरू हुआ तो फिर रीतता ही चला गया। आजकल भर जाना एक आकस्मिक सुखद संयोग है, जबकि अनवरत रीतते जाना अनिवार्य नियति। खुशी हो तो मन भरता है और दुःख घेरे रहे, तो मन

रीतने लगता है, शायद सभी अनुभव करते हैं, लेकिन सच शायद कुछ और है। जो निरन्तर दुःखों से घिरे रहे ज़रा उनकी ओर देखें तो लगेगा कि ये तो इतने भरे हुए थे कि रिक्तता कहीं दीखती ही नहीं थी, न उनके देखने में न करने में।

जिस निराला ने कहा :

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।

उसी निराला ने उल्लास से भरपूर वसन्त के अमर गीत गाए। निराला सरीखे साहित्य में माखनलाल से लेकर हरिशंकर परसाई तक हैं। दुःख से घिरे रहना रिक्त नहीं करता। दुःख के अनुभव को सहेजे रहना और इस अपने दुःख का सार्वजनिक आख्यान कर उसमें औरों को भी सहभागी बनाने का यत्न करते रहना किसी भी व्यक्ति को रिक्त करता है। एक ग़ालिब भी हुए, उनकी अदा निराली थी। ग़ालिब का मशहूर शेर है :

रंज से खूंगर हुआ इन्सां, तो मिट जाता है रंज।
मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसाँ हो गईं।।

वे बेइंतहा मुश्किलों से जिंदगी–भर घिरे रहे और नतीजा यही निकाला कि इतनी मुश्किलें पड़ीं कि सब आसान हो गईं।

विचारणीय यही है कि खुशी को और ग़म को, सुख और दुःख को किस रूपमें ग्रहण करते हैं। दुःख को ओढ़ें नहीं आत्मसात कर लें तो वह दूसरे अर्थ में एक तरह का सुख हो जाता है और सुख को यदि ओढ़ लें, उसे दिखाने लगें, तो फिर वह दुःखी करता है, क्योंकि फिर यह सुख तुलनीय होने लगता है। जो ज़्यादा सुखी हैं उनकी तुलना में अपने को कम सुखी देखकर दुःख ही जन्मेगा।

इसलिए सुख और दुःख का अनुभव होना तो स्वाभाविक है, वह तो होगा ही, लेकिन इस अनुभव को व्यक्त करने का ढंग ही मन को रिक्त करेगा या भरेगा मन ही गढ़ता है हमारे चरित्र को, ढालता है हमारी जीवन–शैली को और वही यात्रा को आगे बढ़ाता है। कबीर मन की सच्ची अस्मिता की गहराई में उतरे थे। 'सबद' में जो कबीर की वाणी है उसमें मन के रूप को लेकर उसकी हर भंगिमा और चरित्र को लेकर उन्होंने सब कुछ कह दिया :

अब मोहि नाचिबो न आवै।
मेरो मन मंदला न बजावै।

जब तक मन की मांदल की थाप गूँजती नहीं, तब तक नाचा ही नहीं जाता। फिर एक जगह कहते हैं :

अवधू छाड़हु मन विस्तारा
सो पद गहौ जाहि ते सद्‌गति, पारब्रह्म ते न्यारा।।

स्थिर करो मन को, विस्तारित मत करो, वरण करो उस स्थिति का, जिससे उत्तम गति मिले मगर कबीर का मन तो मतवाला है :

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उनमति चढ़ा मगन रस पीवै; त्रिभुवन भया उजियारा।।

यह मतवाला मन तो नशे में चूर है, ऐसे नशे में कि सारा त्रिभुवन आँखों के सामने दीप्त हो उठा। यह मतवाला मन जब नाचता है, तो नट हो जाता है :

नाचु रे मेरो मन नट होई।
ज्ञान के ढोल बजाई रैनिदिन सबद सुनै सब कोई।।

नट की तरह नाचने वाला मन सभी का मन है। इस मन की उपेक्षा करना अपनी यात्रा को विराम देना है। मन की मांदल पर थाप पड़े, तो वह नाचने लगे, मतवाला हो उठे, नट की तरह चंचल हो जाएँ मन का इसी तरह गतिमान हो उठना सुख और की विभाजन रेखा से कहीं ऊपर उठा देता है और कबीर दुःख आगाह भी कर देते हैं :

मन फूला–फूला फिरे जगत में कैसा नाता रे !

कबीर हो नहीं सकते इसलिए कि कबीर की तरह वह झीनी चादर पास मेंही नहीं है जो जतन से ओढ़ ली जाए और फिर ज्यों–की–त्यों रख दी जाए। आज तो चादर ओढ़े सभी घूम रहे हैं, अपनी–अपनी चाहत वाले रंगों की चादर और उसे इस तरह लपेट लिया है कि वह छूटती नहीं, छूटेगी भी नहीं। जतन से चादर तो ओढ़ रखी है, लेकिन उसे ज्यों–की–त्यों वापस रख दें, यह भाव ही नहीं। चादर को ज्यों–की–त्यों वापस रख देने का भाव ही सुख और दुःख के अनुभव से मुक्त कर सकता है। चादर को पाने का मोह और फिर उसे अपनी चाहत में रंगने का मोह, उसे हमेशा लपेटे रहने की तृष्णा, उसे न छोड़ पाने की लालसा, यही सब सुख और दुःख के अनुभवों को गहरा बनाते हैं।

इसका आशय यह भी नहीं कि सुख और दुःख के अनुभवों के बीच फर्क करना भुला दिया जाए। पूरी तरह निस्संग हो जाएँ अनुभवों से। सुख के अनुभव अलग होते हैं जिनमें आह्लाद निहित रहता है और दुःख के अनुभवों में अवसाद। ऐसा संभव ही नहीं है कि कोई व्यक्ति सुख और दुःख की अनुभूतियों में अन्तर न कर पाए। मतलब यही है कि अपने सुख और दुःख अपनी ही अनुभूति की परिधि के अन्दर रहें। अपने निजी दुखों को व्यापक बनाकर उसमें सभी को सहभागी बनाने का यत्न करना, उनके सहभागी न बनने पर और दुःखी हो जाना यह यत्न मनुष्य को छोटा बनाता है।

सार्थक साहित्य की अन्तर्दृष्टि समग्रता की है इसलिए वही साहित्यकार और उसका साहित्य समादृत हुआ जो दुःखों की निजता से मुक्त रहा। सच्चे सर्जक के दुःख अपने होते हैं और उसके सुखों में वह ज़्यादा से ज़्यादा समाज को सहभागी बनाना चाहता है। यही दृष्टि यदि पनप जाए तो बहुत कुछ पा लें अमर्ष और विद्वेष से, सँकरी मानसिकता और ओछे

आचरण से, दोहरी जीवन–शैली से, अपने अंदर के अन्तद्वंद्वों से, और इसी तरह की तमाम ऐसी विकृतियों से जो हमारे जीवन में अनिवार्य रूप से शामिल हो गई हैं, मुक्त हुआ जा सकता है।

मुक्ति के लिए कबीर–सा जतन करना होता है, चादर को ओढ़ना फिर ज्योंका–त्यों रख देना। मुक्ति के लिए ऐसा यत्न करें, बिना यत्न के कुछ भी संभव नहीं। बिना यत्न किए बैठे रहना या देखते रहना दुःखों की दीवारों से घिरे बंदीगृह में आजीवन कारावास की यंत्रणा का निरन्तर अनुभव करते रहना है।

यह कारा तोड़नी होगी। निराला और कबीर वे अक्षत लौह–स्मारक हैं जिनकी नींव में सिर्फ ऐसे टूटे कारागारों की असंख्य ईटें हैं। मनुष्यता की बढ़ती यात्रा के इतिहास की इबारतें इन्हीं स्मारकों के अक्षरों से ही लिखी गई हैं।

किसी के जाने पर, किसी के आने पर

ताबां का एक खूबसूरत शेर याद आया

उनके आने को क्या कहूँ ताबां
उनका जाना मेरी निगाह में है।

आने और जाने को लेकर यही मानसिकता बनी रहती है। कोई आया तो उसके जाने की वेला के दृश्य उसके आगमन के समय से ही आँखों में तैरने लगते हैं। वसन्त के जाने की वेला में यही याद आया कि जब वसन्त आया था तब जाने कितने आम्रबौर अपनी मादक गंध से हवा के पोर–पोर को गंधिल कर गए थे, फूलों का पराग मन की तमाम गलियों में बिछ गया था और आँखों में पलाश–ही–पलाश तैर उठे थे। खूब याद आए थे जयदेव और पद्माकर। लगा था कि गीतगोविन्द की अष्टपदियों ने, पद्माकर के वासन्ती छन्दों ने शायद अपना सब कुछ बिखेरकर, सब कुछ समेट लिया हो लेकिन जब वासन्ती हवा के झोकों के बीच मानस के एक छोर पर ये सारे अनुभव और दृश्य थे तो दूसरे छोर पर पीले पत्ते, उदास पतझर, सूखती नदी, रेतीले बवंडर और मुरझाई कोंपलों के वे दृश्य भी उभर रहे थे जो वसन्त के प्रस्थान की परिणति होते हैं। वसन्त और उसके बाद ग्रीष्म इन दोनों के आगमन और प्रस्थान के संधिकाल में यह सोच और मुखर हो उठा है। जब ग्रीष्म आ जाएगी तब अप्रेल और मई में – बरसात के अनुभव और दृश्य याद आने लगेंगे। मनुष्य को कल्पना की यदि मखमली कालीन बख्शी गई है तो उसे विरासत में वह यथार्थ दृष्टि भी मिली है जो कंकरीली, पथरीली पगडण्डियों की चुभन और राजपथों के आतंक की अनुभूति करा देती है।

आजकल यह संधि–काल जो दो ऋतुओं के बीच हुआ करता था और जिसमें मनुष्य की दृष्टि आगामी यथार्थ को तलाशा करती थी वह संधि–काल ऋतुओं के संदर्भ में ग़ैरप्रासंगिक हो गया है। अब तो यह संधि–काल त्रिशंकु की याद संसद के संदर्भ में दिलाता है। ऋतुओं के प्रसंग में तो आश्वस्ति–सी रहती थी कि वसन्त बीता तो तपन–भरी ग्रीष्म आएगी ही लेकिन हमारे जनतंत्र के प्रसंग में ऐसी कोईआश्वस्ति नहीं। जनमत एक त्रिशंकु संसद तो सौंप देता है लेकिन कोई ऐसे सपने नहीं सौपता जो यथार्थ में बदल पाएँ। इसलिए कि यह संसद ही प्रश्नचिह्न बन गई। जिस संसद को सवालों को हल कर उनके आगे पूर्ण विराम लगाना था आज वह खुद एक प्रश्नचिह्न है। इसे आस्थावान नियति मान लेते हैं और यथार्थवादी बुद्धिजीवी अपनी दिमाग़ी कसरत और कयासों का एक और मुद्दा लेकिन इस त्रिशंकु से मुक्त होने के उपाय नहीं मिलते। मुक्ति का यत्न होता ही नहीं। मुक्ति के प्रयास किए जाएँ तो इस अधबीच और अनिर्णय से छुटकारा भी मिले। प्रकृति इस मामले में बड़ी नियमित है। निश्चित समय पर वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद आती हैंचली जाती हैं, इस निसर्ग से, प्रकृति से कोई सीख नहीं ली जाती। हमारा स्वभाव स्वाभाविक नहीं रह गया वह अस्वाभाविकताओं को ओढ़कर स्वाभाविक बने रहने का अभिनय करता है। इसी अस्वाभाविकता ने आज के मनुष्य को बड़ा असहज बना दिया, अपारदर्शी बना दिया और एक ऐसी

जीवन–शैली दे दी जिसका स्वयं जीने पर ही नियंत्रण नहीं है। इस जीवन–शैली से वह स्वाभाविक वैज्ञानिकता अदृश्य है जो मनुष्य को संवेदनशील बनाती है। वैज्ञानिकता का प्रकृति से कोई द्वंद्व नहीं बल्कि जब रचनात्मकता से भरे हाथ प्रकृति की ओर बढ़ते हैं तब वह और संवर जाती है, उसका सौन्दर्य दो गुना हो उठता है लेकिन एक द्वंद्व की मानसिकता पाल लेने से मनुष्य और प्रकृति, दोनों के सन्तुलन प्रभावित हुए हैं। यह सन्तुलन बना रहे इसलिए ज़रूरी है कि आने और जाने की सीमा रेखाएँ सुनिश्चित होंमर्यादाओं का पालन हो, एक अनुशासन विकसित हो। हमारे पुरखे इस मामले में चौकन्ने थे, वे ऋतुओं के आने और जाने के संबंध में बेहद संवेदनशील थे, इतने कि ऋतुएँ भले कई माहों में निरन्तर रहती हों लेकिन वे प्रत्येक माह की ऋतु और उसके स्वभाव के प्रति सजग रहते थे। उसका अध्ययन–अवलोकन करते थे और उसे अपनी तूलिका के चित्रों से उकेर देते थे। राजस्थान की विभिन्न चित्र–शैलियों में चाहे 'बारामासा' को केन्द्र में रखकर बनाए गए लघुचित्र हों या केशव की पंक्तियँ, इस तथ्य की गवाह हैं। वसन्त में क्या–क्या घटित होता है, निसर्ग की शोभा कैसी अनुपम हो उठती है और ग्रीष्म में किस तरह गर्मी की वेदना का अनुभव होता है, यह सब इन लघुचित्रों को निहारकर ही जाना जा सकता है। वे यह इसलिए जान पाए क्योंकि आने और जाने के अनुशासन से वे न केवल परिचित थे, बल्कि इस अनुशासन में उन्होंने बाँधा था स्वयं को। मग़र आज का तो परिप्रेक्ष्य ही भिन्न है। आज ऋतुएँ कब आती और चली जातीं हैं इसका आभास तक नहीं होता। एक उपभोग संस्कृति ने हमारी जीवन–शैली ऐसी बदली कि रागात्मकता का जो भाव ऋतुओं के स्वभाव से हमारे स्वभाव के बीच तादात्म्य स्थापित करता था वह ख़त्म हो गया। आज वसन्त, शरद, ग्रीष्म और वर्षा के लक्षण स्मृति से जा रहे हैं। इनके अनुभव होते हैं, लेकिन ये अनुभव किस ऋतु के परिणाम हैं यह भी पूरी तरह नहीं जानते। एक प्रवाह में बहे जा रहे हैं, नहीं जानते कि इस प्रवाह का अंतिम छोर हैं कहाँ ? और यह भी नहीं जानते कि यह प्रवाह हमें कहीं विकसित कर रहा है या हमें यथास्थिति में ही बने रहने पर विवश कर रहा है ? इस न जानने का कारण यही है कि विचारवान होने के नाम पर एक वैचारिक शून्यता जन्मी है, जीने के नाम पर एक अभिनय होना शुरू हो गया है और भरे रहने का सन्तुष्टि भाव, वास्तव में भीतर से प्रत्येक को रिक्त करता जा रहा है। आज सुनना, देखना और लिखना प्रभावहीन हो चला है, सुनते हैं पर गुनते नहीं, देखते हैं लेकिन दृष्टि नहीं जन्मती और लिखते हैं तो वही जो खुद के लिए हो, संवेदनहीनता के इन दिनों में पलाश पर रीझना बंद हो गया, हाटों में मांदल की थाप पर थिरकना थम गया, रंगों की बरसात में भींगने से बचने लगे और सहज फूट पड़ने वाले उल्लास के गोमुख जाने कहाँ खोने लगे। किसी के आने और किसी के जाने के बारे में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, पहले राह देखते थे कोई आ रहा होगा, जो जा चुके उनके बारे में सूने पथ को निहारते थे कि वह शायद लौटे लेकिन अब सोचते हैं जो आ गया वह जाएगा कब और जो चला गया वह कहीं लौटकर तो नहीं आ रहा ? निश्चय ही समय के दबाव से उपजी विवशताएँ होती हैं लेकिन वे विवशताएँ ऐसी नहीं होनी चाहिए जो आने और जाने के अनुशासन को भुला दें। किसी के आने पर और किसी के जाने पर, ज़रूरी है यह चिन्तन कि आने वाले के लिए मन में क्या

अभिनन्दनीय भाव हैं, उससे क्या कुछ पा लेने की आकांक्षा है और जो जा चुका उससे कितना कुछ लेकर हमने अपनी रिक्त को भर लिया। आने और जाने के बीच की यही मर्यादा है। यही सीमा–रेखा है। हरेक उत्कृष्ट कहे जाने वाले में सभी कुछ उत्कृष्ट नहीं होता और न ही हरेक निकृष्ट कहे जाने वाले में सब कुछ हेय होता है। अपनी रिक्त को इन दोनों ध्रुवों के सान्निध्य से भरा जा सकता है लेकिन मुश्किल यह है कि कोई अपने को अपूर्ण, अधूरा और रिक्त मानता ही नहीं। सभी अपने आपको उत्कृष्ट, पूर्ण और भरा हुआ समझते हैं, इसी वजह से टकराव जो पहले कभी मूल्यगत हुआ करता था वह व्यक्तिगत हो गया है। इतने अहंकार से भरे हुए, दंभ और अभिमान से परिपूर्ण मनुष्य इस सृष्टि ने शायद ही पहले कहीं देखे हों। पहले अहंकार अपवाद होता था और आज अपवादहीन अहंकार ही अहंकार है। कंस, दुर्योधन, रावण और इनके जैसे अहंकारी अपवाद पात्रों के रूप में जाने जाते थे लेकिन आज के समय में ऐसे अपवाद पुरुषों की गिनती नहीं। विनम्र, उदार, सहिष्णु और शालीन होना शायद आदमियत की शान के खिलाफ समझा जाने लगा। और इसीलिए सच यही है कि मनुष्य रिक्त होता चला गया और हम इस भ्रम को पाले, कि वह तो पूर्ण है अधूरा नहीं है, लबरेज हैं। इस भ्रम के कारण वह मर्यादा भंग हो गई जो आने और जाने को रेखांकित करती थी।

इन दिनों जब वसन्त जा चुका और ग्रीष्म का आगमन हो गया तब ऐसे जाने कितने विचार मन को मथ रहे हैं, इस मंथन से कोई परिणाम निकले, यह नहीं जानता मग़र चाहता हूँ कि ऐसा मंथन शुरू हो तो। मंथन के परिणाम होते हैं, उसके नतीजे निकलते हैं, चाहे अमृत निकले या विष लेकिन कुछ निकलेगा। मंथन होगा तो हलचल होगी, हिलोरें उठेगीं, एक आंदोलन की प्रक्रिया जन्मेगी और यही प्रक्रिया कहीं विकसित करेगी मनुष्यता को। आने और जाने को लेकर, कुछ भी नहीं करना, उसे देख भर लेना, अनुभव–भर कर लेना पर्याप्त नहीं है। आने और जाने को लेकर अपनी दृष्टि को संपन्न कर लेना ही महत्त्वपूर्ण है। वसन्त गया और ग्रीष्म आई है, इस ग्रीष्म का केवल अनुभव कराकर चले जाना और फिर वर्षा की बाट जोहना जाने और आने को परिभाषित नहीं करेगा। इस ग्रीष्म में पतझर के बीच किसी सूखी डाल और पीले पत्तों के बीच एक नया बसेरा बनाने की यदि कोशिश की तो आना और जाना दोनों परिभाषित हो जाएँगे। मंथन और मर्यादा दोनों की सार्थकता सिद्ध होगी, नीरव पतझर के बीच नए नीड़ को बसाने का यत्न ही जाने और आने की सार्थकता का पर्याय है।

काँवरिए

सावन का पहला सोमवार आने को है। धरती की रंगत बदलने लगी। आसमान से झरती बूँदों से आपाद–मस्तक स्नान कर, हरे परिधान ओढ़ने का जतन करती यह धरती सँवार रही है अपने आपको। नदियों और तालाबों के पानी के पारदर्शी होने की परवाह किए बिना, बार बार उनमें अपना प्रतिबिम्ब निहारने को आकुल होती रहती है।

इसी हरी धरती के बीचोंबीच पगडंडियां है, सड़कें हैं, रास्ते के नाम पर कुछ पथरीले पथ हैं जिन पर काफिला–सा चला आ रहा है। गेरुए वस्त्र, कंधे पर काँवर जिसके दोनों ओर कलश हैं नर्मदाजल से भरे हुए ये कलश भी ढँके हैं गेरुए वस्त्रों से। 'बोल बम' के अनवरत निनाद से पथ गूँज रहे हैं। ये काफिले बेतरतीब से हैं, इन्हें समूह नहीं कह सकते। कुछ लोग बहुत आगे हैं, कुछ बीच में, कुछ बहुत पीछे। ये लोग, इस सावन में सिर्फ लोग नहीं हैं, काँवरिए हैं। इनके कंधों पर काँवर है, जिसके दोनों छोरों पर बँधे कलशों में ओंकारेश्वर के तट से नर्मदाजल भरकर अब ये अवन्तिका में महाकाल का जलाभिषेक करने चले आ रहे हैं।

हरी धरती के बीचोंबीच गेरुए वस्त्रधारियों का यह समूह ऐसा लगता है जैसे धरती के ललाट पर चंदन का वक्र तिलक लगा हो।

उज्जयनी में इन काँवरियों की कतारें–ही–कतारें दीख पड़ती हैं। ये केवल ओंकारेश्वर से ही नहीं आ रहे, पूरे देश से आ रहे हैं, पवित्र नदियों के जल से भगवान महाकाल का अभिषेक करने। आस्था का यह सैलाब सावन में उमड़ पड़ा है।

इन काँवरियों को देखकर बरबस लगने लगता है कि इस देश में अभी तक एक विशाल जन–चेतना में यह भाव नहीं जागा कि आस्था के फल मिलते क्यों नहीं ? इसका बड़ा कारण यह है कि यह निश्छल चेतना अपनी आस्था का मोल नहीं करती। वह फल चाहती ही नहीं। यह लोक–चेतना अभी भी अपने आपको फल–प्राप्ति की इच्छापूर्ति से नहीं जोड़ पाई। वह सिर्फ कामना से जुड़ी है। कामना तो करती है पर फल–प्राप्ति हो ही इस आकांक्षा से उसका जुड़ाव नहीं है।

जाने कब से यह देश काँवरियों से भरपूर है। तरह–तरह के काँवरिए हैं जिनका वेष अलग–अलग है। महाकाल को जलाभिषिक्त करने जो काँवरिए सावन में चल पड़ते हैं उनकी निश्छल आस्था का अर्थ तो समझ में आता है लेकिन उन काँवरियों के समूहों का कोई अर्थ समझ नहीं आता जो कंधों पर काँवर लटकाए अपने–अपने फलों की प्राप्ति की आकांक्षा में जाने कितनी निरर्थक यात्राएँ कर रहे हैं। इनके लिए हर माह सावन है और हर सोमवार, श्रावण सोमवार है। इन काँवरियों ने जाने कितनी पवित्र नदियों का जल उलीचकर उन्हें उथला बना दिया। कई छोटी नदियाँ सूख गई, तालाब बंजर हो गए ये काँवरिए पोखरों तक का पानी उलीच लाएँ इनके महाकाल उज्जयनी में नहीं हैं। वे राजधानियों में हैं, महानगरों में, बड़ी पीठों में या संस्थानों में हैं। देश के सारे गाँवों का जल वहाँ इकट्ठा होकर जाने कब से

व्यर्थ बह रहा है और प्यास सारे देश की नियति बन कर रह गई है। हरेक यदि अपने कंधे देखे तो उसे लगेगा कि उसके कंधों पर भी कोई काँवर है। काँवर के दोनों सिरों पर लटके कलशों में जल है, यह जल धन का है, बल का है, मोह का है। अपने–अपने निहित स्वार्थो के जल से भरे ये कलश हरेक ढो रहा है, अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिए हमारे कंधे स्वतंत्र नहीं हैं, उन पर काँवरों का भार है।

स्वतंत्र कंधे वाले काँवरविहीन व्यक्तित्व अब विलुप्त हो चले। काँवर का यह ढोना मजबूरी नहीं है, मजबूरी के रूप में इसे स्वीकार कर लिया है। स्वीकार कर लो तो फिर उसे निभाओं। इस निभा लेने के पीछे भी यही सोच है कि हमने काँवर ढोने के औचित्य को सिद्ध कर लिया। स्वतंत्र कंधे तो उन लोगों के हैं जो परिश्रम कर अपनी पहचान बना लेते हैं, वे किसी भी तरह के जल से किसी को अभिषिक्त कर अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति नहीं करना चाहते और इन्हीं लोगों की वजह से इस देश की पहचान अभी तक कायम है। ये परावलम्बी नहीं हैं। स्वतंत्र कंधों वाले ये लोग निरभिमानी हैं और इसी कारण वे स्वाभिमानी हैं। जो अपने आपको स्वाभिमानी कहने का दम्भ भरते हैं, वे सबसे ज़्यादा दीन, मजबूर और परावलम्बी हैं। वे जब अपने स्वाभिमान की बात करते हैं तो वह उनका स्वाभिमान नहीं होता थोथा दम्भ भर होता है।

इस अंचल में सावन के महीने में जो निश्छल आस्था से प्रेरित होकर नर्मदाजल कलश काँवरों पर लादे महाकाल तक आते हैं, उनके कंधों पर काँवरें ज़रूर दीख पड़ें लेकिन वे स्वतंत्र कंधों वाले निरभिमानी लोग हैं। उन्हें परवाह नहीं कि ज़माना क्या कहेगा ? आस्था उनका सबसे बड़ा संबल है। मगर इस आस्था की यात्रा का विराम–स्थल जल्दी आ जाता है। इस आस्था की यात्रा का निरन्तर बने रहना कहीं उस विश्वास को भी जन्म दे सकता है जो संकल्पों के प्राण बने। आस्था का विश्वास में परिणत हो जाना ही काँवरिए की सबसे बड़ी सफलता है, लेकिन यह आस्था जलाभिषेक कर विराम पा जाती है।

कालिदास से बड़ा काँवरिया कौन होगा जिसने अपनी आस्था के जल से महाकाल को अभिषिक्त किया और यह विश्वास पैदा कर लिया अपने आपमें कि फिर उनकी काव्य–यात्रा क्षिप्रा के तटों पर ही विराम नहीं पा गई, इस विश्वास ने ऐसा कालजयी काव्य रचा जो इस देश के पोर–पोर को आख्यायित करता था। सदियों से विद्वान् यह नहीं जान पाए कि कालिदास इस देश की किस भूमि में जन्मे। वे ऐसे काँवरिए थे, जिन्होंने अपनी दृष्टि को इतना समग्र और व्यापक बनाया कि वह दृष्टि पूरे भारत की सांस्कृतिक अस्मिता की लोक दृ ष्टि बन गई।

कालिदासऐसे काँवरिए हैं जिनके कंधे स्वतंत्र हैं। आस्था यदि काँवर को भार के रूप में सौंपती है तो इस आस्था से जन्मा विश्वास कंधों को उस भार से मुक्त भी कर देता है। आस्था से भरपूर ये काँवरिए विश्वास से परिपूर्ण नहीं दिखते। जलाभिषेक पूरी आस्था और निष्ठा से करने के बाद वे अपनी यात्रा को विराम दे देते हैं। यदि यह यात्रा विराम न पाए

और एक संकल्प के साथ फिर आगे बढ़े तो उस मानुष धर्म को सार्थकता मिले जिसका उद्‌घोष वैदिक ऋचाकार से लेकर विवेकानन्द तक ने किया।

बेचैनी कहाँ नहीं ? चैन छिना भी, उसे छोड़ भी दिया। बिना बैचैन हुए लगता ही नहीं कि दिन स्वाभाविक तौर पर बीता है। सभी बैचैन हैं। मन में छटपटाहट है। इसलिए कि मन में कोई मूर्ति विश्वास की विराजी नहीं। विश्वास की मूर्ति यदि मन में प्रतिष्ठित हो जाती तो फिर कोई चिन्ता नहीं रहती। चिन्ता अपनी होती है, वह निजी होती है। चिन्ता मिट जाए तो फिर मन शहंशाह हो जाता है, जैसे कबीर का हुआ :

चाह मिटी, चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिए वे साहन के साह।।

इस चिन्ता से मुक्त होकर कबीर ने उस विश्वास को पा लिया जिसने उन्हें वह ताक़त दी कि वे अपने पूरे युग की विसंगतियों से लोहा ले सके।

कबीर जैसे विद्रोही तेवर तुलसी के भले न हों लेकिन उनके मन में भी राम के विश्वास की अटल मूर्ति विराजी थी और इसीलिए वे पूरे स्वाभिमान के साथअकबर के आमंत्रण को ठुकरा सके :

हम चाकर रघुवीर के पटो लिख्यो दरबार।
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार।।

और सूर! सूर के मन में तो कोई जगह ही नहीं थी, किसी और के लिए, और उन्होंने लिखा :

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नन्द नन्दन अछत ऐसे आनिए उर और।।
चलत चितवत, दिवस जागत, सयन सोबत रात।
हृदय ते वह मदन मूरति, छिन न इत उत जात।।

मन में ठौर नहीं रहा। वहाँ तो नन्द नन्दन ऐसे अक्षत रूप में विराजे हैं कि, किसी और के वहाँ प्रतिष्ठित होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

कबीर, सूर और तुलसी वे काँवरिए थे जिन्होंने अपनी आस्था को अटल विश्वास में परिणत किया और फिर उनका अपना युग ही उनका नहीं हुआ, सारेयुग उनके हो गए उनका विश्वास पीढ़ियों की प्रेरणा बन गया। वे सिर्फ धार्मिक आख्याता ही नहीं रहे, राष्ट्र की संस्कार और सांस्कृतिक धारा के प्रपात पुरुष बनगए। यह उनकी आस्था की यात्रा के अविराम रूप से आगे बढ़कर उसके विश्वास में बदल जाने का परिणाम था जिसने उनकी ही नहीं सारे समाज की बेचैनी खत्म की। उस बेचैनी को खत्म किया जो समाज की वैयक्तिकता में मौजूद थी, जबकि उसे समाज की समग्र चेतना में मौजूद होना था। उन्होंने व्यक्ति की बेचैनी खत्म की

और समाज को बेचैन बना दिया। व्यक्ति यदि बेचैन हो तो कोई असर समाज पर नहीं होता लेकिन समाज जब बेचैन हो उठे तो फिर देश कहीं अपनी सामर्थ्य का आकलन करता है, यदि उसमें कहीं कमी हो तो उसे सहेजता है, प्रतिरोध के लिए तत्पर होता है, अन्याय के विरुद्ध खड़ा हो उठता है, अपने अवसाद से, उदासी से, हताशा से मुक्ति पाता है। समाज की बेचैनी इतिहास की धारा को मोड़ देती है। सावन के माह में पवित्र भाव से यात्रा करने वाले काँवरिए आस्था की काँवर को कंधों पर साधे चले आते हैं, वे इस आस्था को एक विश्वास में परिणत कर, लौटें तो फिर वह काँवर उनके लिए भारहीन रहे। वे स्वतंत्र कंधों वाले ऐसे पुरुषार्थी बन जाएँ जिनमें सामर्थ्य हो कि वे अन्याय का प्रतिरोध कर सकें, अवसाद से मुक्ति पा सकें, इतिहास की धारा को मोड़ सकें। उनके द्वारा अर्पित जल यदि उनके विश्वास का प्रतिनिधि बने तो जाने कितने मरुथलों में हरियाली के सोहर गान गूंजने लगें। यह कोरा आशावाद नहीं है। आशा आरम्भ में अविश्वसनीय ही लगती है। वह विश्वसनीय बनती ही तब है जब मनुष्य की कर्मशक्ति के प्राण उसमें बस जाते हैं। यह आशा जरूर पूरी हो सकती है बशर्ते कि इस आशा को पूर्ण करने का संकल्प मन में स्थिर हो जाएँ।

काँवरिए आ रहे हैं, दूर–दूर से, तमाम दिशाओं से, जाने कितने समूहों में, जाने कितने अकेले, उनका आना जाने कब से जारी है इसकी कोई तिथि नहीं, इतिहास नहीं। इन काँवरियों की कोई प्रेरक कथा इसीलिए नहीं लिखी जा सकी क्योंकि ये आए और जल चढ़ाकर, अपनी आस्था को अर्पित कर लौट गए आना और उसी रास्ते से लौट जाना यात्रा है ही नहीं। यात्रा तो आगे बढ़ने का पर्याय है। यदि ये लौटते नहीं और आगे बढ़ते, आस्था को विश्वास में परिणत कर तो फिर इन्हीं में से कोई जन्म जाता जो किसी सम्राट के सामर्थ्य को चुनौती देता, समाज को दिशा देता, धर्म को उसकी रूढ़ व्याप्ति से छुटकारा दिलाता। आज जो काँवरिए अपने निजी हितों की पूर्ति के लिए तरह–तरह के जल ढो रहे हैं, वो काँवरिए नहीं हैं। उनके पास तो आस्था का भाव तक नहीं।

आज जो खेतों, खलिहानों में अपने स्वेद–बिन्दुओं को बिखेरकर उनसे बीज को सिंचित कर राष्ट्र के सच्चे अन्नदाता हैं, जो कारखानों में, रात–दिन अपने जीवन को तिल–तिल कर भस्म करते लोहे से सोना ढाल रहे हैं, जो पूरी निष्ठा के साथ अपने–अपने मोर्चे सँभाले इस देश के गर्वोन्नत भविष्य को गढ़ने में लगे हैं, वे कौन हैं ? वे ही असली काँवरिए हैं जिनके मन में आस्था के दीप, विश्वास की लौ लिए जगमगा रहे हैं। उनके नाम असंख्य हो सकते हैं, लेकिन उनके रूप में भिन्नता नहीं है। उनका रूप ही तो राष्ट्र की सामर्थ्य को अर्थ दे रहा है। मगरउनका यह निश्छल विश्वास छल का शिकार है। उनके विश्वास को फलीभूत नहीं होने दिया जा रहा, उसकी दिशा तय नहीं हो रही, उन्हें भटकाने के लिए षड्यंत्ररचे जा रहे हैं।

छल का यही संकट इस विश्वास के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। छलने वाले सीमित लोग असीमित को छल रहे हैं। यदि इस छल को पहचानकर आस्था से प्रेरित, काँवरिए जान जाएँ और भोले विश्वासी यदि इस छल के विरुद्ध पूर्ण प्रतिकार की मुद्रा धारण कर लें तो जड़ता और हताशा की लौह दीवारें अपने आप टूटेंगी।

महाकाल अटल और अडिग विश्वास के आह्वानकर्ता हैं। वे हरेक काँवरिए से यही आह्वान कर रहे हैं कि मुझे आस्था के जल से अभिषिक्त करो, फिर इस जल को विश्वास के रूप में धारण कर सामूहिक बनो और बढ़ो, निरन्तर बढ़ो उन पथों पर जिनके अंतिम छोर पर भविष्य के तोरणद्वार खड़े, उनकी राह देख रहे हैं।

इन तोरणद्वारों से प्रविष्ट होकर नई सृष्टि बनाई भी जा सकेगी और आज की सृष्टि को बचाया भी जा सकेगा।

शंकर ने अपने कंठ में जो गरल धारण कर सृष्टि को बचाया और नए सृजन के द्वार खोले वह गरल नहीं था, सिर्फ अडिग और अटल विश्वास था।

प्रभास की सीपियाँ

द्वारिका से लौटते हुए प्रभास क्षेत्र की ओर यात्रा बढ़ चली। उसी पथ से जिस पथ से संकर्षण बलराम गए होंगे, अभिशप्त यादव गए होंगे, गए होंगे अर्जुन, दारुक और कृष्ण। सागर के तट से सटे हुए पथ पर यात्रा जारी है। पोरबन्दर से प्रभास तक जो सड़क जाती है वह अचानक उन्मुक्त हो उठती है। चलते–चलते सड़क के दोनों ओर दीख पड़ने वाले टीले और वृक्ष विलुप्त हो जाते हैं और सड़क के समानान्तर गर्जन करता तरंगों को बार–बार तट पर टकराता अपरिमित सागर दिखाई देने लगता है।

साँझ निकट आ रही है, सूरज भी प्रयास कर रहा है सागर में समा जाने का लेकिन उसमें समाने से पहले वह उसकी हर हिलोर को अपनी किरणों से स्वर्णिम बना देना चाहता है। हर उठती हरी हिलोर पर सोने की अद्भुत वर्षा हो रही है। लहर के ऊपर स्वर्णिम कान्ति है और लहर के ऊपर उठते ही उसकी बूँद–बूँद में बिखरी रजत आभा ! इस सागर ने इस ढलते दिवस में सोने और चाँदी के जाने कितने खज़ाने अनावृत्त कर दिए।

आँखें तो इस अद्भुत शोभा को निहार रही हैं लेकिन छोटे बालक का कुतूहल उसे सागर के उस रेतीले तट तक खींच ले गया जहाँ सीपियाँ ही सीपियाँ बिखरी हैं। इन बिखरी सीपियों को वह तल्लीनता से बटोर रहा है। दृष्टि सागर पर पड़ती है, रेत पर बिखरी सीपियों पर और उस अबोध बालक पर जिसे सागर की उत्ताल तरंगों का नर्तन अभिभूत नहीं करता, रेत पर बिखरी तीपियों का सम्मोहन खींचता है।

मन कहीं दूर द्वापर तक चला जाता है। अपनी अंतिम यात्रा के समय में कृष्ण भी इसी पथ से गुज़रते, इसी समुद्र के किनारे अबोध शिशु बन गए होंगे। कृष्ण तो स्वयं समुद्र थे मगर इस समय उनके लिए वह तुलनीय नहीं रहा। उसका वैराट्य, उसकी गहराई, उसकी आसमान को छूती हिलोरें, उनकी दृष्टि में यह सब निस्सार था। वह सागर जो द्वारिकाधीश के पाद–प्रक्षालन द्वारिका में करता रहा, उसे वे वहीं छोड़ आए थे। वे तो अब निपट अकेले कृष्ण थे। मानव कृष्ण। उस पल उस समुद्र को उन्होंने कुछ इस तरह देखा मानो वह सिर्फ सीपदान करने वाला अपनी तरंगों में लीन दाता भर हो। इस सागर के अपरिमित स्वरूप में, उसकी तरंगों में, गर्जन में, उन्होंने अपने कृतित्व के प्रतिबिम्ब नहीं निहारे, वे तो बस बटोरते रहे सीपियाँ जो कभी उनके कृतित्व की मूक साक्षी बनकर सागर के तल में युगों तक पड़ी रहीं और आज सतह से रेत के तट पर आकर उनसे मानो पूछ रही हों कि हमें अब सहेजने की सुध आई जब खुद अपनी सुधि बिसराने के लिए सदैव के लिए जा रहे हो।

द्वारिका से प्रभास की ओर जाते मधुसूदन इन सीपियों को जाने कब तक सागर–तट पर बटोरते–बटोरते अपनी तमाम स्मृतियों को आखिरी बार सहेज लेने का जतन करते रहे होंगे।

सीप में बन्द सुधियाँ, अपनी सुध खो देने के आखिरी चरण में ही सहेजी जाती हैं फिर वह चाहे कृष्ण हों या साधारण मानव। और इस आखिरी चरण में कोई भेद नहीं रहता ईश्वर और अबोध शिशु के बीच।

इसलिए जब अबोध बालक सीपियाँ बटोर रहा था तब याद आ रहे थे युगपुरुष, भावपुरुष, अवतारपुरुष, अच्युत, सच्चिदानंदधन, कृष्ण, वे एक–एक सीपी की निचली चमकीली सतह से अपने कृतित्व की एक–एक भंगिमा देखते थे, देवकी, वासुदेव, कारा, कंस, तमाम पाण्डव, कौरव, भीष्म वे सारे यादव जिनके वे अग्रपुरुष थे, फिर रुक्मणी, सत्यभामा और न जाने कितने अनगिनत व्यक्तित्व, अपनी अनगिनत लीलाएँ और अन्त में सिर्फ एक सीप की चमकीली सतह पर राधा की छवि उभरी होगी जो प्रभास से कोसों दूर कालिंदी के तट पर ताज़े मोगरे के फूलों की वेणी बाँधे उनकी बाट युगों से जोह रही थी। यह निहारना, सीपी की बेजान सतह पर अपने जीवन्त अतीत को देखना सिर्फ कृष्ण की अपनी निधि था जिसमें कोई साझीदार नहीं था। साक्षी थी रेत जो गोपाल की साक्षी रही यमुना के उल्लास भरे तीर पर और इस निर्जन वीरान सागर–तट पर भी। इस रेत ने सिर्फ यही आखिरी सीप सौंपी श्याम को जिसमें सिर्फ श्यामा थी और कोई नहीं। इस आखिरी सीप को निहारकर केशव चल पड़े होंगे दारुक के साथ।

गांधारी का शाप सार्थक हो गया था। यादवों का अन्त निकट आ गया था। मदिरा ने मति विलुप्त कर दी थी। वे यादव जिन्होंने महाभारत में अपने पौरुष से इतिहास की धारा मोड़ दी, मदमस्त हो संघर्षरत हो गए स्वयं कृष्ण ने देखा कि सात्यकि ने कृतवर्मा को मारा, फिर अपने ही आत्मीय जनों के द्वारा प्रद्युम्न की मृत्यु, इसके बाद असहनीय हो गया। कृष्ण ने अपने दाहिने हाथ से भूमि पर उगी एरकघास मुट्ठी में भरकर नोंच ली। फिर उन एरक तृणों को झगड़ते यादवों पर फेंका। वे तृण मूसल बन गए और देखते–देखते संहार की रौद्रता साकार हो गई। प्रभास में चारों ओर अस्थियों के ढेर बिखरे थे, महाभारत के महान योद्धाओं के अचीन्हे अवशेष।

कृष्ण बड़े उन्मन थे। दोपहर पहले दाऊ की देह को उन्होंने ध्यानस्थ अवस्था में अंततः निष्कंप होते देखा था। योग–साधना से बलराम ने शरीर त्याग दिया था। कृष्ण अब निपट अकेले थे। कृष्ण ने कहा था, 'महाभारत में, हे अर्जुन! वृक्षों में, मैं अश्वत्थ हूँ' 1 कृष्ण ने इसी पीपल के पास बैठकर अर्घ्यदान दिया था। हिरण–कपिला के संगम पर खड़ा यह विशाल पीपल वृक्ष कृष्ण ने चुना, उसकी जड़ों पर सिर टेककर लेट गए और अपना दायाँ पाँव मोड़कर अपनी छाती पर रख लिया। तभी हवा में कुछ सरसराहट हुई, एक तीक्ष्ण, तरल स्पर्श हुआ दायें पाँव के तलुए में, लहू की धार बह निकली। तीर गहरे धँस गया था। उसे निकालने का कोई प्रयास नहीं किया। प्रभात होने को था, आकाश में तारे धुँधलाने लगे थे। सूर्योदय के समय सूर्यास्त की वेला थी। भोर के वेश में कालरात्रि का पहला प्रहर था, इतिहास के असंख्य पन्ने फड़फड़ाकर बंद होते जा रहे थे। जिस जरा नामक शिकारी ने तीर चलाया, उसे भी निर्भय बना दिया। कहा–'ऋषि के शाप का यह टुकड़ा मुझे लगना ही था, उसके पूर्व यह देह

नहीं छूटती–तुम तो निमित्त भर हो, तुमने कोई पाप नहीं किया।' दारुक, कृष्ण के सारथि उन्हें खोजते आए, बनमाली की छाती पर सदैव विराजी रहने वाली तुलसी की माला के गंध के सहारे। रोने लगे, पूछने लगे कहाँ जाऊँ ? उसे द्वारिका जाने का निर्देश दिया। गरुड़ध्वज रथ घोड़ों सहित देवलोक को चला गया, उसी के साथ पाँचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, शार्ङधनुष ये सभी वैष्णव आयुध स्वर्ग चले गए कोई साज–शृंगार नहीं रहा। अब कृष्ण निपट अकेले थे. प्रभास में पीपल की जड़ों पर सिर रखे। जिस धरती को इतिहास दिया उसी की धूल में सने कृष्ण, इतिहास से अब भाव में परिणत हो रहे थे।

कृष्ण के महाप्रयाण का साक्षी था 'जरा' नामक व्याघ। अपनी क्षीण होती आवाज़ में कृष्ण ने उससे कहा, 'अर्जुन यहाँ आएँगे। उनसे कहना कि वे गोकुल में प्रतीक्षारत राधा को यह सन्देश भेज दें कि कृष्ण की प्रतीक्षा अब मत करना।'

सच कहा कृष्ण ने अपनी आखिरी सांस में। सिवाय राधा के कृष्ण की सच्ची प्रतीक्षा और कौन कर रहा था ? सब जो उनसे जुड़े वे कृष्ण के अभिलाषी थे। राधा के सिवा कोई नहीं था जिसके सब कुछ कृष्ण थे लेकिन जिसने सबके लिए अपने सब कुछ को छोड़ दिया था और कोई अभिलाषा तक नहीं रखी कृष्ण से। कृष्ण की अंतिम साँस में इस राधा के सिवा कौन बस सकता था ?

राधा को यह सन्देश देने का दायित्व उद्धव को निभाना था। उद्धव को चुना ही था कृष्ण ने इसलिए कि जो दायित्व कोई और न निभा पाए वह उद्धव ही निभाएँ। परम्परा से जाने कितने प्रसंग राधा के संबंध में चले आए हैं। यह प्रसंग भी है जब उद्धव गोकुल पहुँचते हैं। उद्धव कृष्ण का सन्देश लेकर पहले भी राधा के पास पहुँचे थे। आज भी एक सन्देश है। इन दोनों सन्देशों के बीच लंबे समय का अन्तराल है सब कुछ बदल गया लेकिन राधा नहीं बदली। वह तो वैसी–की–वैसी ही है। सदा सुहागिन, वेणी बाँधे, चंदन लेपित किए पूरा गाँव उसे पागल कहता है लेकिन उसका शृंगार अक्षुण्ण है। कोई स्त्री पति की मृत्यु के बाद भी शृंगार करती रहे तो उसे समाज पागल ही कहेगा। इस पागल राधा से उद्धव जब मिलते हैं तब वह उन्हें तत्काल पहचान लेती है। उद्धव तरह–तरह के संकेतों से उसे समझाने का यत्न करते हैं कि कृष्ण नहीं रहे लेकिन उन्हें लगता है सन्देश पहुँचा नहीं। बड़ी उहापोह के बीच वे कहते हैं राधा से कि कृष्ण नहीं रहे, उनकी देह पंचभूत में विलीन हो गई।

राधा के मुख से हँसी छूट पड़ती है। वह कहती है 'उद्धव, चलो, मैं दिखाती हूँ कृष्ण को।' वह यमुना के तट पर ले जाती है, दिखाती है उसका प्रवाह, तमाल के कुंज, निस्सीम आकाश। फिर कहती है, यह हैं कृष्ण, तुम्हारी बुद्धि भी वृद्धावस्था के कारण क्षीण हो गई, तुम भी कृष्ण को देह में देखते हो ? जिसने एक बार कृष्ण का स्पर्श पा लिया वह तो स्वयं विदेह हो कृष्ण हो गया। देखो ये सब कृष्ण हैं। कैसे कह दिया कि कृष्ण नहीं रहे।

उद्धव विस्मित हैं, विह्वल हैं। फिर राधा उन्हें उस पीपल के पेड़ के पास ले जाती है जहाँ अंतिम बार भोर के पहले पहर में कृष्ण उससे मिले थे। सदैव के लिए कृष्ण से ब्रज छूट

रहा था। कोई नहीं था दोनों के पास। तब राधा ने माधव से सिर्फ एक कामना की थी कि तुम अपना पाँव आगे करो, मैं उसे आखिरी बार पखार देना चाहती हूँ। ब्रज की धूलि यदि छूटे तुम्हारे पाँवों से तो मेरे अश्रुजल से छूटे। तब कृष्ण ने अपना दाहिना पाँव आगे कर दिया था, राधा ने उसी दाहिने पाँव के तलुए पर अपनी आँखें रख दीं और जी भरकर अंतिम बार उस पाँव को अपने आँसुओं से धो दिया।

इसी दाहिने पाँव को प्रभास में पीपल की जड़ों पर लेटे कृष्ण ने आगे कर दिया था और इसी दाहिने पाँव के तलुए से जरा के बाण की नोक स्पर्श पा गई थी, गहरा और नुकीला स्पर्श, तरल रुधिर बह निकला था। राधा के आँसू चाहे हर्ष के हों या विषाद के, कृष्ण के रक्त की एक–एक बूँद ही तो थे। यदि अपनी आखिरी साँस में कृष्णको राधा याद नहीं आती तो कौन याद आ सकता था ?

प्रभास तीर्थ में आज दो स्थान हैं। एक तो वह जहाँ कृष्ण को तीर लगा और दूसरा देहोत्सर्ग', जहाँ कृष्ण की देह पंचभूत में विलीन हुई। जिस स्थान पर तीर लगा, वहाँ कृष्ण की मूर्ति है जिसमें वे पैर आगे किए हैं और तीर से विद्ध है पाँव, सामने जरा हाथ जोड़े खड़ा है। एक पीपल का वृक्ष भी है, कृष्ण के सिरहाने। कुछ आगे देहोत्सर्ग है, नदी के किनारे। वहाँ दो पाँव रखे हैं पत्थर के। इस स्थान पर खड़े होकर आसपास निहारना बड़ा विलक्षण अनुभव है।

जाने कितने युग बीते, पर न कभी राधा अतीत हो सकी न कृष्ण।

मेरे एक मित्र ने बताया था कि वे जब प्रभास गए तब देहोत्सर्ग' पर, कृष्ण की समाधि पर वे फूट–फूटकर रोएँ मुझे विचित्र–सा लगा यह अनुभव। रोने का क्या प्रश्न ? कर्मयोगी की समाधि पर क्यों रोना ? वह राधा नहीं रोई जिसके सब कुछ थे श्रीकृष्ण। फिर उसके लिए तो वे कर्मयोगी भी नहीं थे, निरे हरि थे, ब्रजगोपाल, वंशीधर, माधव और कान्हा।

कृष्ण की समाधि वह स्थान है जहाँ जाने पर मन में कृष्ण हमेशा के लिए विराज जाते हैं। वे तो जन्मते हैं वहाँ। कंस की कारा में जन्मे जाने वाले श्रीकृष्ण का प्रभास में अन्त नहीं होता, वहाँ उनका पुनर्जन्म हो जाता है। कृष्णत्व से संस्पर्श द्वारिका में नहीं होता, प्रभास में होता है। प्रभास नित नए उगने वाले प्रभात का नाम है। वहाँ जाने पर लगेगा कि कृष्ण प्रतिष्ठित हो गए एक बार फिर मन में, मानसमें।

प्रभास मैं गया तो अभी, इसी युग में, लेकिन लगा कि मेरी साँसों में द्वापर की ही प्राणवायु समाई है। लगता ही नहीं कि समय नाम की भी कोई संज्ञा होती है और उसका लम्बा अन्तराल सब कुछ बदल देता है। देहोत्सर्ग' नामक इस तीर्थ के सामने, कृष्ण की समाधि के सामने खड़े होकर यही लगता है कि मानस में कहीं कृष्ण समा गए, मन में विलय हो गए।

प्रभास से लौटते फिर सागर–तट बीच में पड़ा। इस बार अपने अबोध शिशु के साथ मैं भी सीपियाँ बटोर रहा हूँ। युगों से सागर की अथाह जल–राशि के बीच से निकली सीपियाँ

और इन सीपियों की चमकीली सतह पर उभर रहे हैं जाने कितने व्यक्तित्व, कितने बिम्ब, आखिरी सीपी उठाता हूँ, उसमें वेणी से सँवरी राधा और साँवरे माधव की मोहिनी छवि है। उसे सहेजकर रख लेता हूँ। यात्रा की निरन्तरता जारी रहती है।

मणिकर्णिका की शहनाई

यह दशाश्वमेध घाट है काशी का जहाँ से नाव पर सवार हुआ हूँ। मल्लाह से ठहराव हुआ है एक घण्टे का। वह एक घण्टे में गंगा के प्रमुख घाटों पर ले जाएगा। नाव जो तट पर लगी थी, वह खोल ली जाती है, फिर वह तैरने लगती है गंगा की जल–सतह पर। आगे की ओर मणिकर्णिका घाट पड़ता है, उससे पहले डोम की हवेली। डोम राजा बिना अपना शुल्क लिए अग्नि नहीं देता। जब वह अग्नि देता है तभी हरिश्चंद्र घाट और मणिकर्णिका पर किसी निस्पंद देह का दाह–संस्कार संभव हो पाता है।

मणिकर्णिका घाट पर अनोखा दृश्य है। चिताएँ जल रही हैं और निष्प्राण देहें दाह की प्रतीक्षा में आसपास रखी हैं। इन देहों पर सुनहरी रंग के कफन हैं, सफेद नहीं। मान्यता है कि यहाँ जिसका दाह–संस्कार होता है वह सीधे स्वर्ग जाता है। देखकर लगता है कि सुख पाने की लालसा इतनी प्रबल भी होती है कि वह जीवन के समाप्त हो जाने के बाद भी विराम नहीं लेती। इस लालसा ने डोम राजा को, उसकी आगामी पीढ़ियों को शाश्वत समृद्धि के आश्वस्ति–भाव से परिपूर्ण कर रखा है। मणिकर्णिका पर अपने दाह की प्रतीक्षा करतीं जाने कितनी देह यही तो पुष्ट करती हैं कि मरण, लालसा की यात्रा को रोकने वाला कोई अवरोध नहीं है, वह तो उसकी यात्रा को गति देने वाला एक सशक्त माध्यम है। कभी काशी करवट भी हुआ करती थी, लोग जीते जी कुएँ में छलाँग लगाकर मरण को वर लेते थे, इस विश्वास के साथ कि इस तरह प्राण तज देने से स्वर्ग मिल जाएगा। यह प्रथा बंद करा दी गई मगर मणिकर्णिका पर इस आकांक्षा के लालसा के प्रत्येक क्षण दर्शन होते हैं।

लगता है मोह के बंधन मरण को भी बाँध लेते हैं। मृत्यु मानव के मोह से हारती रही है और इसी हार की साक्षी हैं मणिकर्णिका की जीवन्त ज्वालाएँ।

मणिकर्णिका घाट से आरम्भ होने वाली महायात्रा मोहयात्रा है। यही सोचते–सोचते एक विलक्षण दृश्य देखता हूँ। देखता हूँ कि मणिकर्णिका घाट से ही एक नाव खुलरही है, सजी–धजी नाव में सद्यःपरिणीत युगल बैठा है। साफा बाँधे दूल्हा और हरी चूड़ियाँ पहने, लाल साड़ी में लिपटी सकुची–सी नववधू, शहनाई बज रही है, ढेरसी महिलाएँ मंगलगान गा रही हैं। उनके हाथों में आरतियाँ हैं, पुष्प हैं, नारियल हैं। कुतूहल से पूछने पर मल्लाह बताता है कि इस नवयुगल को गंगापूजन के लिए ले जाया जा रहा है। नाव में सवार इन सारे यात्रियों को मणिकर्णिका पर जलती चिताओं से जैसे कोई सरोकार ही नहीं। अद्‌भुत संयोग है, नए सृजन को तत्पर गंगा की आरती उतारता यह नवयुगल और इसी गंगा के किनारे विसर्जित होता हुआ एक और सृजन। एक ओर रचाव का भाग्य लिखा जा रहा है और दूसरी ओर रचे जा चुके का अंतिम संस्कार। सजी–धजी नाव से लेकर मणिकर्णिका के घाट पर जलती चिताओं के बीच सृष्टि की कहानी का आरम्भ और अन्त एक साथ दीख पड़ता है। आँखें बिना किसी भाषा के पूरी कहानी पढ़ लेती हैं। सारे दर्शन, तर्क और आख्यान मानो विराम पा जाते हैं। इस सजी–धजी नाव में गंगा की आरती उतारते, नए सृजन का आह्वान करते इस नवयुगल

को देखकर लगता है कि यह युगल भी तो एक यात्रा की शुरुआत कर रहा है, मोह की यात्रा की।

कहाँ अन्तर है इस यात्रा में और उस महायात्रा में जो मणिकर्णिका के घाट से ज्वालाओं के बीच शुरू हो रही है।

देह के शरीर के होने न होने से मोह की यात्राओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जीवन जब तक है तब तक मोह के, लालसा के स्वरूप भिन्न हैं और जीवन के बाद फिर उनके रूप भर बदल जाते हैं। कई तो इसी जीवन में निर्मोही बने रहकर, तपस्वी बने रहकर, सब कुछ त्यागकर सिर्फ जीवन के बाद की यात्रा की कल्पना करते हैं और वह यात्रा कैसे सुखमय हो, इसी मोह में जीवन त्याग देते हैं। मोह के अनन्त पाश से मुक्ति मिलती नहीं।

कामनाएँ, कामनाएँ, कामनाएँ अन्तहीन कामनाएँ ही हैं जो जीवन की रेखा के दोनों ओर हैं। इनके छोर नहीं दीखते।

गंगा, कावेरी, गोदावरी, नर्मदा ये सारी नदियाँ पूजनीय और वंदनीय हैं। इसीलिए कि इन्होंने जीवन दिया, उसे जिये कैसे वह शैली दी और यह भी दीक्षा दी मनुष्य को कि यदि जीना है तो धड़कनों का हिसाब मत रखना। जीने वाले हिसाब नहीं रखते और जो हिसाब रखते हैं वे नित्य मर–मरकर जीते हैं और वास्तव में वे मृत हैं जीवित नहीं। इन सारी नदियों ने जीवनशक्ति दी है, जीवन के बाद का मोह पाल लेने की प्रेरणा नहीं दी। यह मोह तो मनुष्य की अन्तहीन कामना ने पाल लिया। फिर यह मोह जब पला तो पल्लवित होता चला गया। यही पल्लवित मोह जाने कहाँ कहाँ से निष्प्राण देहों को लाकर मणिकर्णिका पर ज्वालाओं को बुझने नहींदेता।

गंगा के तट पर सजे इस घाट को देखकर मनुष्य के निस्सीम मोह की ही पुष्टि होती है, यह पुष्टि नहीं होती कि गंगा के इस घाट पर जलकर कोई सीधा स्वर्ग पहुँच जाएगा। गंगा जीवन के नैरन्तर्य की प्रवहमान साक्षी है। जाने कितने जीवन इसके कछार में पनपे जिन्होंने इस देश की महान सांस्कृतिक अस्मिता रच दी और वे इसी के किनारे विलीन होते गए गंगा के लिए तो हर जीवन एक रचना है और हर मरण इस संकल्प का बार–बार दुहराव कि जीवन के, सृजन के, रचाव के सिलसिले को कभी थमना नहीं। पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक, गंगा के किनारे परिभाषित नहीं करते, वे तो यही परिभाषित करते हैं कि गंगा के आंचल में जन्मकर कुछ सार्थक रच देना और रचकर गंगा में अपने आपको विसर्जित कर देना ही सबसे बड़ा पुण्य है। इस देश के इतिहास में जितने महान गंगापुत्र हुए उनके सामने जीवन की सांध्यवेला में मणिकर्णिका घाट नहीं था बल्कि इस देश की संस्कृति को सहेजे रखने के सपने थे।

मणिकर्णिका पर जलती चिताएँ और उनके ठीक सामने बहती नाव में बैठे शहनाई की धुन पर विभोर होते नवयुगल को देखकर इसी नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि गंगा की

अस्मिता से सच्चा जुड़ाव तो इसी नवयुगल का है जो गंगा की आराधना कर एक नए सृजन का संकल्प ले रहा है और जलती चिताएँ जिसके लिए अशुभ संकेत नहीं है।

एक घण्टा पूरा होने जा रहा है, मल्लाह ने नाव लौटा ली, घाटों को देखकर प्रवहमान गंगा की जलसतह की गति को अपने में समेटकर फिर किनारे पर लौट आया हूँ।

दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों से ऊपर चढ़ रहा हूँ। मणिकर्णिका के घाट का दृश्य बार–बार कौंधता है आँखों में और फिर इस देश का दृश्य उभर आता है।

लगता है इस देश में अनन्त कामनाओं को पाले लोगों की भीड़, उमड़ी पड़ रही है, एक ही क्यों जाने कितने मणिकर्णिका घाट बन गए हैं लेकिन इस देश कीप्रवहमान गंगा की जल–सतह पर कुछ गिनी–चुनी नौकाएँ तैर रहीं है जिनमें नए सृजन के आकांक्षी बड़ी कम संख्या में बैठे गंगा की आरती उतारने को तत्पर हैं।

इन नौकाओं की संख्या कब बढ़े, कैसे बढ़े, यही विचार मानस में उभर आया है और जलती चिताएँ आँखों के सामने से विलीन हो गई हैं।

तुम नहीं आए

बड़ी पुरानी पंक्तियाँ अचानक उभरकर मन को मथ रही हैं :

बात वह इतनी नयी जितनी कि तुम थीं
अब पुरानी हो गई,
तुम नहीं आए, नहीं आए, नहीं आए
हो गया राह का पीपल बड़ा
निमिया सयानी हो गई।

रास्ते का पीपल बड़ा हो गया, नीम सयानी हो गई मग़र तुम आए नहीं। यदि अब आओ तो कैसे लगोगे ? उम्र कितनी हो गई होगी, रूप कितना बदल गया होगा, आओगे तो पहचान भी पाऊँगा या नहीं, नहीं मालूम। भले न पहचान पाऊँ मग़र प्रतीक्षा तो होती ही ऐसी है कि जिसकी कोई उम्र नहीं होती। जो खत्म हो जाए वह क्या प्रतीक्षा ?

प्रतीक्षा तो वह है जिसका अर्थ है या तो करो ही नहीं और करो यदि तो फिर उसे समय से बाँधो मत। खुद को खत्म हो जाने दो लेकिन प्रतीक्षा को नहीं। प्रतीक्षा जिस दिन समाप्त हो जाएगी, वह प्रतीक्षा रहेगी ही नहीं वह तो परीक्षा हो जाएगी जिसका समय तय होता है, वह हो जाती है, परिणाम निकल आता है फिर परीक्षा का कोई महत्त्व नहीं रहता। प्रतीक्षा और परीक्षा में ख़त्म न हो जाने और ख़त्म हो जाने का ही तो अन्तर है।

प्रतीक्षा करते रहो तो इस प्रतीक्षा में समाई आकुलता का अपना सुख होता है। आकुलता से बाट जोहते रहने में कहीं न कहीं मन एक अतृप्त बेचैनी की तृप्ति में डूबा रहता है। किसी की राह देखो और वह आए नहीं तो बड़ी झुंझलाहट होती है और फिर प्रतीक्षा समाप्त हो जाती है। यह प्रतीक्षा सच्ची प्रतीक्षा नहीं है यह एक किस्म की विवशता है। किसी ने कहा वह उस ठौर तक आया नहीं, नहीं आ पाया तो हमने अपनी राह पकड़ी और चल दिए। नहीं, यह प्रतीक्षा नहीं है, यह बाटजोहना नहीं है, यह राह देखना नहीं है। सच्ची प्रतीक्षा तो वह है जिसका कभी अन्त न हो। भले लौट आओ अपनी राह पकड़कर मग़र मन में इस भाव का अलख जगाए रखो कि आने वाला ज़रूर आएगा फिर वह कभी आए। वह नहीं आएगा यह आशंका पालो मत। जिस पल यह आशंका पल गई प्रतीक्षा समाप्त हो जाएगी। अविकल रूप से विकल जो बनाए रखे, ठौर पर बार–बार लाकर खड़ा करे, फिर लौटा लाए, लौटते लौटते भी आस बनी रहे और दुबारा फिर ठौर पर जो पहुँचा दे, यह आश्वस्ति दे कि वह नहीं आया लेकिन कल ज़रूर आएगा और मन को यही लगे कि काश वह कल भी नहीं आए तो फिर लौट जाएँ, यही तो प्रतीक्षा है। प्रतीक्षा आज के जो हम हैं वे नहीं कर सकते क्योंकि प्रतीक्षा करने का वह भाव हमारे पास है ही नहीं। प्रतीक्षा तो राधा की थी, मीरा की, राबिया अल बसरी और गोरा अन्दाल की थीं। इन्होंने अपने प्रिय को कभी सिर्फ अपने लिए नहीं बाँधा बल्कि स्वयं को सदैव के लिए उससे बाँध लिया। समर्पण हो तो अपना हो, प्रिय का समर्पण अपने लिए ही हो यह भाव कहीं व्यक्ति के प्रेम को छोटा बना देता है। इसलिए राधा

और मीरा के प्रेम की ऊँचाई, गहराई और निस्सीमता को मापने के लिए अनगिनत हिमालय, सागर और आकाश भी कम होंगे। यदि किसी के सच्चे समर्पण को परिभाषित करना हो तो सिर्फ राधा कह दो, मीरा या गोरा अन्दाल। इसी समर्पण में ऐसा विरह समाया है जो प्रेम को और छलकाता है, यह विरह दुःखी नहीं करता बल्कि दुःख को बिसरा देता है

नंददास ने कहा :

कृष्ण विरह नहीं विरह, प्रेम उच्छलन कहावै।
निपटपरमसुख रूप, इतर सब दुःख बिसरावै।।

यह जो विरह की आकुलता है वही आकुलता प्राण है प्रतीक्षा की। यह आकुलता जब तक बनी रहती है तब तक मानो मन में आशा का दीप प्रज्ज्वलित रहता है। यह दीप बुझ तब जाता है जब मिलन के साथ आकुलता समाप्त हो जाती। समाप्त हो जाने वाली आकुलता का कोई अर्थ नहीं। अर्थवान आकुलता तो वह है जिसकी यात्रा ख़त्म ही न हो; जो मिलन के पहले भी बनी रहे, मिलन के बीच भी और मिलन के बाद भी। दो बिछोहों के बीच मिलन एक पुल है। इस पुल पर से गुज़रते आकुलता को छोड़ दें और पुल के दोनों छोरों पर फिर उसे अपना लें तो यह आकुलता को ओढ़ने की कोशिश होगी, आत्मसात करने की नहीं। विकल मन के दो छोर कभी नहीं होते। विकलता की अनुभूति तो निरन्तरता की है। इस नैरन्तर्य का खण्डित होना प्रतीक्षा की देह का निस्पंद होना है। विरह के मायनेमिलन के क्षण को पा लेने के लिए विकल होना नहीं है, विरह के मायने हैं ऐसे मिलन की आस जो पूरी हो जाए फिर भी विकलता बनी रहे। कोई आने वाला है, उत्कंठा बनी हुई है, मन आतुर हो रहा है, जाने कितने सपने आँखों में तैर रहे हैं, जिस राह से वह आएगा उसे निरन्तर निहारा जा रहा है, समय कब बीत रहा है हर पल इसका साक्षी बना हुआ है, फिर वह निश्चित घड़ी के बीतने पर यदि उत्कंठा समाप्त हो जाए, मन की आतुरता को अवसाद घेर ले, आँखों में तैरते सपने उड़ जाएँ, राह की ओर ताकें तक नहीं और लौटने को तत्पर हो उठें तो इसे प्रतीक्षा नहीं कहा जाएगा। निश्चित घड़ी के बीतने पर फिर दुगनी उत्कंठा लिए बाट जोहें कि आने वाला आएगा और यह उत्कंठा मनोभूमि को निरन्तर अपने जल से सींचती रहे तो सच्ची प्रतीक्षा यही होगी।

निश्चित घड़ी के बीतने से या न बीतने से प्रतीक्षा का कोई संबंध नहीं होता, किसी के आने या न आने से उसकी कोई संगति नहीं, आना या न आना तो एक निमित्त मात्र है। इसी निमित्त ने प्रतीक्षा नाम की संज्ञा को अस्तित्व भर दिया है। मूल तथ्य तो है वह जिसके लिए समर्पण है, पूर्ण समर्पण, ऐसा पूर्ण समर्पण जिसे समय बाँध नहीं सकता, शब्द अभिव्यक्त नहीं कर सकते जो सिर्फ अनुभव है। यहीं अनुभव चेतना को सम्पन्न करता है, उसे इतना सशक्त बना देता है कि वह सदैव जाग्रत बनीं रहती है, उसकी पलकें झपकती नहीं। जाग्रत चेतना प्रतीक्षा की देन है। चेतना का यही जागरण हर समय को समृद्ध करता चला आया है अन्यथा मनुष्यता की यात्रा जाने कब विराम पा जाती। कबीर कहते थे :

बहुत दिवस से जोहती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन को मन नाहीं विसराय।।

कबीर की आँखें यदि अपने राम की बाट जोहतीं, वे विश्राम पा जातीं तो कबीर के बाद आने वाले जाने कितने युग चेतना के जागरण से वंचित रह जाते। कबीर अपने राम की बाट जोहते रहे, अपनी आँखों को उन्होंने विश्राम नहीं लेने दिया और कबीर ने कभी यह दावा पेश नहीं किया कि उन्हें राम मिल गए। अपने राम के मिल जाने का दावा यदि कबीर ने किया होता तो फिर कबीर, कबीर होते ही नहीं। वे भी उन तथाकथित महात्माओं की ज़मात में शामिल हो जाते जो राम को पाने का दावा कर अपने दम्भ को पुष्ट भर कर लिया करते हैं। कबीर की आँखें अनवरत बिना विश्राम किए अपने राम की बाट जोहती रहीं, उनकी इस प्रतीक्षा की कोई निश्चित घड़ी नहीं रही। यह ऐसी प्रतीक्षा थी जिसे खत्म होना ही नहीं था जो की ही इसलिए जा रही थी कि उसकी निरन्तरता खण्डित न हो। राम का आना तो एक निमित्त भर था। कबीर जैसी आँखें मिलें और सूर जैसा अंधत्व तो फिर प्रतीक्षा करने की अभिलाषा पूरी हो जाए।

जाने कितने पीपल के छोटे–छोटे पौधे जो विभिन्न अन्तरालों के बीच उगे और कब तब्दील हो गए कद्दावर घने वृक्षों में, जाने कितने नीम जो शिशु थे वे सयाने हो गए और इन पीपल तथा नीम को निरन्तर पनपते, घने होते चला जाना होगा और तुम्हें नहीं आना होगा, तुम्हारे न आने को मैं अनुभव करता रहूँ और मेरे आसपास अनगिनत पीपल और नीम उगकर, पनपते रहें, मैं यही तो चाहता कैसे समझ लिया कि मैं चाहता हूँ तुम आओ !

’भैया’

मेरे लिए ’भैया’ नाम का संबोधन सिर्फ ’भैया’ के लिए ही रहा। यों आज भी कई साथियों को ’भैयाकहकर पुकार लेता हूँ। लेकिन अचानक मस्तिष्क में कहीं कौंध उठती है कि यह पुकार तो सिर्फ ’भैया’ के लिए थी। हर बार इस शब्द के उच्चारण के साथ सिर्फ वही याद आते हैं और कोई नहीं। इस शब्द का अर्थ कम–से–कम मेरे लिए यही है, जीवन–भर रहेगा जब तक आखिरी साँस भी साथ नहीं छोड़ती क्योंकि कोई दूसरा ’भैया’ का विकल्प नहीं हो सकता।

उनका अचानक हमेशा के लिए चला जाना, आज भी विश्वसनीय नहीं लगता। ऐसे तो सैकड़ों बार मिनिट–दो–मिनिट के लिए घर आए और चले गए, फिर बरसों नहीं आए, नौकरी के भटकाव में बरसों नहीं मिलना हुआ लेकिन जब से वे हमेशा के लिए गए हैं, कहीं यह विश्वास और गहरा होता जाता है कि वे यहीं कहीं होंगे और अचानक चमत्कार यह होगा कि मैं घर में प्रविष्ट होऊँगा तो वे ठेसा के साथ दो रोटियाँ लेकर जल्दी–जल्दी पानी पीते हुए, वापस जाने की तैयारी कर रहे होंगे।

उनके बारे में लिखना, लिखने की ऐसी कठिन परीक्षा है जिसमें मैं उत्तीर्ण हो ही नहीं सकता। भावनात्मक जुड़ाव की सघनता शब्द को इतना तरल कर देती है कि फिर यह तरलता सिर्फ आँखों में आश्रय पाती है, उसे कोई दूसरा ठौर नहीं मिलता। उनकी याद यों तो हर पल बनी रहती है मगर जब वह घनी होने लगती है तो आँखों में फिर, सिर्फ बरसात का ही बसेरा होता है।

अपने निजी दुखों से मुक्त होकर कैसे अपने आपको सबके लिए समर्पित कर देना, इसके वे प्रमाण पुरुष थे, उनसे यही सीखा भी अपनी तमाम सीमाओं में रहते हुए लेकिन जब उनकी स्मृति कौंधती है तो सिर्फ उनके चिरबिछोह की निजी व्यथा ही इकलौती संगिनी बनी रहती है।

उनके व्यक्तित्व को बाँध पाना वैसा ही असंभव है जैसे रेत का बाँध बनाकर तुलना नहीं हो उद्दाम जल–प्रवाह को थामने का यत्न करना। उनके व्यक्तित्व की सकती। अतल सागर, सीमाहीन आकाश और अनगिनत सितारों को अपने में समेटेआकाश गंगा, कोई भी उनके व्यक्तित्व से तुलनीय नहीं। वे तुलना के लिए गढ़े ही नहीं गए थे, उन्हें तो सदैव नियति ने तौला कि देखें शिवकुमार में कितना वज़न है और वह कभी तौल नहीं पाई इस व्यक्तित्व का वज़न, शायद इसीलिए खीजकर उसने अपने अस्तित्व को चुनौती देने वाले इस वुजूद को सदैव के लिए उठा लिया। ठाकुर शिवकुमार सिंह रचे गए भाग्य के विरोध में खड़ी रहने वाली अडिग चुनौती थे। भाग्य उन्हें अपने बनाए रास्ते पर चलने के लिए हर तरह से बाध्य करता रहा लेकिन वे उस रास्ते की बराबरी से अपना रास्ता बनाकर चले। जब सांसद बने तो मुझसे कहा ’यार ! जनपथ वाले को राजपथ भिजवा दिया।’ मैंने कहा जनपथ तो दिल्ली में भी है, बोले, ’वह नकली है। जनपथ तो शनवारा की सड़क और लोनी की पगडण्डी है। दिल्ली में

तो राजपथ ही राजपथ हैं।' उनके इस कहने ने मुझसे एक निबंध लिखवा लिया 'राजधानी में लोकधानी तलाशते हुए' वह जब छपा तो सबसे पहला फोन उन्हीं का आया। जब भी अकेले में बैठते उसे ज़रूर मुझसे पढ़वाते। उसकी जाने कितनी पंक्तियाँ उन्हें कंठस्थ थीं।

आज से बाईस बरस पहले, मई की तपती दोपहर में, बस से अकेला उतरकर मैं बुरहानपुर में पेट्रोल पम्प पर पहुँचा था। बुरहानपुर में प्रविष्ट होते ही यह पेट्रोल पम्प पड़ता है, उन्हीं का पम्प। प्रशिक्षण ख़त्म करने के बाद पहली पोस्टिंग थी। युवा था। बाईस बरस का नौजवान अधिकारी। इन्दौर से ट्रेनिंग लेकर आया था। सांसारिकता से अनजान था लेकिन अरमानों से भरपूर। जेब में सिर्फ एक चिट्ठी थी, मेरे दादा नन्हेलालजी पटेल की जो भैया के अभिन्न मित्र थे। उन दिनों बुरहानपुर में कोई कॉलोनी नहीं थी। छोटा–सा तंग गलियों वाला शहर जिसमें रात–दिन करघों की आवाज़ गूँजती रहती। पेट्रोल पम्प के बाजू से एक छोटी–सी बिल्डिंग थी, उससे सटा हुआ खेत था, जिसमें उस समय केले लगा करते थे। बुरहानपुर की गर्मी मशहूर है। उस रोज़ दफ्तर की छुट्टी थी। मैं अकेला पेट्रोल पम्प पर बैठा, वहाँ पानी पीता रहा। इतनी भीषण गर्मी से साबका पहली बार पड़ा। कुछ अर्से बाद दिन ढला। इधर–उधर कुतूहल से देख रहा था तभी एक ठिंगने कद का गोरा चिट्टा ऊर्जावान, जाने कितने प्राणों की शक्ति का इकलौता पुंज, ओंठों पर खेलती मुस्कान, हल्की–सी मूँछें, झकाझक खादी की पूरी बाँह वाली शर्ट और खादी की ही पैन्ट में सजा एक नौजवान मनोहारी व्यक्तित्व, काले बाल, चमकती आँखें, उन्नत गोरा ललाट और चाल में सधी स्वाभाविक चपलता लिए मेरे सामने खड़ा था। उनके बारे में बहुत कुछ सुन रखा था इसलिए पहली बार मिलना बड़ा विचित्र अनुभव था। उन्होंने मुझे ऊपर से नीचे तक सिर्फ एक बार सरसरी तौर पर देखा, तभी पेट्रोल पम्प पर बैठे प्रकाश भाई ने परिचय दिया 'ये हमारे नए सेल टैक्स वाले उपाध्याय साहब, इन्दौर से आए हैं।' कोई औपचारिकता नहीं, कोई पूछताछ नहीं, सबसे पहले पंप वालों से पूछा– साहब को कोई दिक्कत तो नहीं आई ? डाँटा, मुझे घर फोन क्यों नहीं किया? फिर बड़ी बेतकल्लुफी से बातें इस तरह शुरू हो गईं जैसे जाने कितना पुराना साथ हो। दादा की चिट्ठी दी तो बेहद खुश हुए फिर ज़िद पकड़ ली कि मकान की क्या ज़रूरत, घर पर रहो। इसी बीच और लोग आ गए अनिल भाई भी। उनके पास पाटीदार कॉलोनी के उस मकान की चाबी थी जो उनके ही परिवार का था। अनिल भाई ने बताया कि चाबी उनकी जेब में है, भैया बोले, 'तो अनिल भाई मकान पण्डितजी का हुआ तुम्हारे जेब की चाबी साहब की जेब में और साहब की चाबी मेरी जेब में' ठहाका लगा। शाम होने लगी। पम्प पर लोग इकट्ठे होने लगे। सभी से परिचय कुछ इस तरह हुआ जैसे परिवार का कोई सदस्य बाहर चला गया था, अब अर्से बाद लौटकर आया है। उम्र में सभी बुजुर्ग थे। मेरे गाँव हरदा से बुरहानपुर लगा हुआ है। इसलिए पिताजी के परिचित भी मिल गए लेकिन उम्र के बंधन या औपचारिकता का कोई प्रश्न नहीं था।

आनन फानन सारी व्यवस्थाएँ हो गईं।

मैं यह खुली स्वीकारोक्ति भी करूँ कि अपनी आखिरी सांस तक भैया ने कभी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कभी नहीं कहा, अपने सगे भाइयों के लिए भी नहीं जिनके जाने कितने प्रकरण शायद अभी भी लंबित हों। वहाँ के सेठ ज़्यादती करते थे। कई बार मेरे कमरे के बाहर भीड़ लगी रहती तो भैया भी सभी को चुप रहने की ताक़ीद देते भीड़ में खड़े रहते। भीड़ कम होती, या ऑफिस का कोई कर्मचारी उन्हें जबरन कमरे में ले आता तो जेब से 8–10 बिल्टियां निकालकर रख देते। कहते 'अरे साहब इन ग़रीबों के नाम का माल तो छोड़ो, ट्रांसपोर्ट वालों ने रोक रखा है, ये तो इनका भी माल नहीं है, नहीं बिल्टी छोड़ी तो रात को खाएँगे क्या ? जिनका माल है वे तो आपके पास आएँगे नहीं।

उन्होंने गलत काम के लिए कभी दबाव नहीं डाला, मुझ पर क्या, किसी पर भी। सांसद बनने के तीसरे या चौथे दिन पेट्रोल पम्प पर सुबह–सुबह 6 बजे मैं और वे थे। अचानक फोन बजा। उन्होंने उठाया और शायद दो मिनिट भी यह कहने में नहीं लगाए कि 'आपकी मेहरबानी के लिए शुक्रिया, मैं तो बुरहानपुर वासियों की ही, अपने क्षेत्र के लोगों की ही सेवा करना चाहता हूँ, यह मौका किसी और योग्य व्यक्तिको दीजिए फिर फ़ोन रखकर बताने लगे कि दिल्ली तत्काल बुलाया था, केन्द्र में राज्यमंत्री बना रहे थे। मै समझता हूँ। यह बात शायद ही किसी से उन्होंने कही भी हो।

संस्मरण लिखने बैठूं तो उन्हें याद करते बरसों बीत जाएँ लेकिन उनका सिलसिला खत्म ही न हो। यों भी उनसे संबंध सिर्फ आत्मीयता और स्नेह का रहा। उनकी राजनीति से कोई मतलब नहीं था।

अपने भाई–बहनों में मैं घर में सबसे बड़ा हूँ। मन में यह ग्रन्थि थी कि मेरा कोई बड़ा भाई नहीं लेकिन जब भैया मिले तो यह ग्रन्थि दूर हो गईं वे हमेशा के लिए मेरे और मेरे सब भाई–बहनों के बड़े भैया हो गए और यह संबंध उन्होंने आजीवन निभाया। पूरे परिवार के वे आदरणीय हो गए यह एक विस्मित कर देने वाला सच है कि वे मेरे जैसे अनगिनत लोगों के परिवार के सदस्य थे। उनके पूरे क्षेत्र के लोग उन्हें अपने परिवार का अभिन्न अंग मानते थे, उनसे राय लेते और उस पर अमल करते थे। सब लोगों के दुःख–सुख में शरीक होने के लिए उन्हें जाने कहाँ से ख़बर मिल जाती थी। लोग याद करते और भैया के हाथ उनके कंधों पर होते।

मुझे याद नहीं कि उनके साथ जब तक रहा, ऐसा कोई दिन बुरहानपुर में गुज़रा हो जब वे बुरहानपुर में हों और साथ भोजन नहीं हुआ हो। वे मदिरापान बिल्कुल नहीं करते थे और अन्त में परम वैष्णव हो गए थे। इसी तरह आठवलेजी से भी मिलने वे बार बार जाया करते। लेकिन मित्रों को खिलाने–पिलाने का उन्हें जुनून की हद तक शौक था। दिन में तो मौके कम होते लेकिन शाम होते ही तमाम मण्डली इकट्ठी हो जाती और रात के दो बजे के पहले कोई घर नहीं पहुँचता। साथ–साथ भोजन होता फिर राजनीति को छोड़कर गप्पें होतीं, मज़ाक होते, शेरोशायरी के दौर चलते।

यह तथ्य भी बहुत कम ज्ञात हो कि वे हिन्दी साहित्य के विद्वान मनीषी थे। पाठक मात्र नहीं थे। तमाम व्यस्तताओं के बावजूद वे निरन्तर अध्ययन करते। उनके बैग में आध्यात्म, दर्शन और साहित्य के साथ–साथ फुलवारी लगाने की तमाम पुस्तकें मौजूद होतीं। सैकड़ों बार उन्होंने मुझसे माणिक वर्मा की कविताएँ सुनीं। विशेष रूप से 'गंगा यहीं से बहेगी' नामक व्यंग्य कविता। इसी तरह उर्दू के सैकड़ों शेर उन्हें कंठस्थ थे। साहित्य की गंभीर चर्चा चाहे वह प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों पर हो या आधुनिक समीक्षा पर, जब उनसे करते तो लगता कि किसी मनीषी से विमर्श हो रहा हो। संगीत की समझ का यह हाल था कि जीप में टेप लगा हुआ है और वे कुमार गंधर्व या लता के शास्त्रीय गीत या मेंहदी हसन को सुन रहे हैं। राग–रागनियों, स्थापत्य, इतिहास और लोकभाषा की गहरी जानकारी थी। गुजराती, मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी वे बहुत अच्छी बोलते थे। कानून के विद्यार्थी रहे इसलिए विधि के सभी पक्षों की अच्छी जानकारी थी। तमाम तरह की फसलों, उनकी सुरक्षा, बागवानी का उन्हें बड़ा शौक था। एक गाँव में ही बस गए थे खापरखेड़ा में जिसे आदर्श ग्राम बनाया। वहाँ के लोगों की बीड़ी तक पीना छुड़वा दी। वहाँ तालाब बनवाए, नीलगिरि के वृक्ष लगाए, तमाम तरह के फूलों और फलों के पौधे रोपे। वह गाँव एक आदर्श भारतीय गाँव है। जाने कितनी तरह के कबूतर और तमाम तरह के पखेरू पाले, उन्हें ऐसे सहेजते थे जैसे कोई जौहरी अपने मोतियों को।

उन्होंने जब नवलसिंह सहकारी शक्कर कारखाना निर्मित करने का संकल्प लिया तो किसी को कल्पना नहीं थी कि झिरी जैसी वीरान जगह की चट्टानों के बीच शक्कर के शुभ्र सोते फूट पड़ेंगे। इस कारखाने के निर्माण के समय रात–रातभर जागकर रेत धोई, ईटें पकाईं, दीवारें खड़ी करने करनी लेकर खुद खड़े रहे और यह संकल्प लिया कि इसके निर्माण में एक पैसे का भी भ्रष्टाचार नहीं होगा, यह रेकॉर्ड समय में बनेगा और उत्पादन शुरू करेगा। लोग हँसते थे लेकिन इस संकल्प को पूरा करने के लिए उन्होंने अपना सांसद का पद त्याग दिया। अंततः यह स्मारक बना, निर्धारित समय से पहले बना और समय से पहले उत्पादन शुरू किया। यह कारखाना पूरे निमाड़ और खानदेश इलाके का प्रतिमान कारखाना है जो सिर्फ उनके जीवट का पर्याय है। इसकी मिट्टी के कण–कण में उनके स्वेद–बिंदु बिखरे हैं जो पूरे देश को मिठास बाँटते हैं।

यह कारखाना वह भव्य शिल्प है जो ठाकुर शिवकुमार सिंह के दिवंगत हो जाने के संबंध में किसी को भरोसा नहीं होने देगा क्योंकि उसके परिसर में प्रविष्ट होते ही वे इस गौरवशाली इमारत में चुनी हुई रेत के हर कण में दिखाई देने लगते हैं। रेत के ये कण खुद–ब–खुद उनका अक्स बन जाते हैं। हर पौधे की पत्ती, शक्कर का हर दाना, हर कुर्सी का रेशा–रेशा बोलता है कि वे हैं, यहीं कहीं परिसर में किसी गन्ना लाने वाले किसान के ट्रैक्टर पर बैठे होंगे और उसे हिदायत दे रहे होंगे कि इस साल ज़्यादा रक़बे में गन्ना लगाना, ऋण तुम अभी ले लो। उन्होंने सबसे पहले अपने खेत में केले की पुश्तैनी फ़सल को उखाड़कर गन्ना बोया। कई बार गुजरात गए अमूल डेरी में, कुरियन साहब से मिले। महाराष्ट्र की तमाम

सहकारी मिलों में बार–बार गए और सहकारिता के आधार तत्त्वों का प्रत्यक्ष अनुभव लिया। वे सहकारिता के बिरले विशेषज्ञ थे। किसी को भरोसा नहीं था कि यह मिल चल जाएगी। उनकी ज़िद यह भी समझी गई लेकिन आज उनकी दूरदर्शिता प्रदेश के इस प्रतिमान कारखाने के पोर–पोर से झाँकती है। इस मिल के लिए शेयर इकट्ठे करने वे गाँव–गाँव गए क्षेत्र के हर किसान को इसमें साझीदार बनाने की सफल कोशिशकी। किसान उनके मन–प्राण में बसे थे। उनके प्रति उनका समर्पण बेमिसाल था। परिवार में जब कभी विवाह का अवसर आए तो तमाम गाँवों के किसान न्योते जाते, उन्हें पहले भोजन कराया जाता, बाद में शहर के लोगों का भोजन होता। उनके लिए ऊँचे–से–ऊँचे कलाकारों के कार्यक्रम कराए जाते। मुझे उलाहना देते, 'क्या–क्या लिखते रहते हो, अरे किसानों पर लिखो।' मैंने उनसे वायदा भी किया कि मैं किसानों के बारे में नियमित लिखूँगा, अनुभव बटोरकर। कुछ निबंध उन्हीं की प्रेरणा से लिखे।

क्षेत्र के सर्वांगीण विकास की ललक से भरे इस सच्चे धरती–पुत्र ने यह भी संकल्प लिया कि कपास के इस इलाके में कम–से–कम पाँच सूत की मिलें खोली जाएँ। इसके लिए उन्होंने निरन्तर पदयात्राएँ की। शेयर इकट्ठे करने, इसके फायदे बतलाने। ज़मीन भी ली। निमाड़ में एक ग़ैर परम्परागत ऊर्जा का बिजली कारखाना लगे इसके लिए झिरी के पास ही इस परियोजना की शुरुआत भी कर दी। सेवासदन महाविद्यालय कैसे शिक्षा के क्षेत्र में इस इलाके का सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालय बने इसके लिए वे समर्पित रहे। कबड्डी हो, कुश्ती हो, मेले हों, वे कहाँ नहीं रहे। इतना स्फूर्ति से भरा, लोहे जैसी अपूर्व क्षमता से पूर्ण व्यक्ति आज तक नज़र से नहीं गुज़रा। केदारनाथ अग्रवाल की ये पंक्तियाँ शायद उन जैसे के लिए ही रची गई हैं :

मैंने उसको / जब जब देखा / लोहा देखा / लोहा जैसे।
तपते देखा / गलते देखा / ढलते देखा / मैंने उसको
गोली जैसा चलते देखा।

लोग कहते हैं भैया जिद्दी थे। अपनी ज़िद में उन्होंने अपना राजनैतिक भविष्य नहीं बनाया। वे सबसे कम उम्र के विधायक थे और प्रदेश की युवक कांग्रेस के पहले अध्यक्ष। लेकिन मेरा मानना है कि वे राजनीतिज्ञ थे ही नहीं। राजनीतिज्ञ के पास कूटनीति होती है, समय के साथ अपने को बदलने का कौशल होता है, अपने समीकरण होते हैं, यह चातुर्य होता है कि कब पारदर्शी बनना और कब नहीं, और अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं जो सर्वोपरि होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए वह क्या कुछ नहीं करता लेकिन भैया के पास इनमें से कुछ भी नहीं था। उनके पास सिर्फ अपनी ईमानदारी की पूँजी थी और किसानों की सेवा का संकल्प। महत्त्वाकांक्षा केवल इतनी थी कि उनके इलाके के किसान अपना वाजिब हक पा जाएँ। पद की कभी कोई आकांक्षा नहीं रही। यदि वे जिद्दी थे तो केवल अपने संकल्पों की पूर्ति के लिए समझौते नहीं करते थे। इसलिए जो लोग उन्हें जिद्दी समझते हैं वे अपनी आँखों पर ऐसा चश्मा पहने होते हैं जिससे एक आम राजनीतिज्ञ को देखा जाता है। जो व्यक्ति राजनीतिज्ञही

न हो उसे उस कोण से देखने की कोशिश करना बेमानी है। 'भैया' सच्चे मनुष्य की बिरली और विलुप्त होती जा रही प्रजाति के विरल प्रतिनिधि थे। आस्था, पारदर्शिता, स्नेह, समर्पण और अपने संकल्पों के प्रति पूर्ण निष्ठा से पूरित एक निश्छल व्यक्तित्व। हरेक पर भरोसा कर उसे अपना लेना, अपना सब कुछ उसे सौंप देना उनका स्वभाव था। इसी स्वभाव ने उन्हें पात्र और कुपात्र में भेद नहीं करने दिया। जब भेद समझ में आता तब गहरी टीस उठती, व्यक्त भी होती लेकिन वह स्वभाव नहीं छूटा।

चुनाव उनके लिए राजनैतिक कर्म नहीं था। एक बहाना था अपने तमाम चाहने वाले लोगों से मिलने का। जीत या हार उनके लिए अर्थहीन थी। यह उनका एक अपना तरीक़ा था कि चुनाव के पहले और बाद में, चाहे वे हारें या जीतें हर मतदाता से मिलने ज़रूर जाते थे। हफ्तों पैदल घूमते थे। हर गाँव के बाशिंदे को उसके परिवार के लोगों को, बच्चों को नाम से जानते और पुकारते थे।

यों संयुक्त भरा–पूरा परिवार रहा, जब परिवार बड़ा हुआ तो कुछ भाई अलग–अलग रहने लगे। उनका खुद का कोई घर नहीं था। मोमिनपुरा के मकान में एक कमरा, एक ड्राइंग रूम तीसरे तल पर। पूज्य भाभी और इकलौती बेटी मंजूश्री, जिसे हम सब बचपन से मंजू दीदी कहते रहे, उन्हें जैसे–तैसे व्यवस्थित करने की कोशिश करतीं लेकिन उनके पास कोई समय ही नहीं था इन दो सर्वाधिक निकट लोगों के लिए भाभी इतनी सीधी कि उन्हें कुछ बोलना ही नहीं आता, यदि कोशिश करें तो श्रीमान् मज़ाक करने लगें, इसलिए उन्होंने अपने व्यक्तित्व का पूरी तरह भैया में विलय कर दिया। दोनों आजीवन अभिन्न ही रहे। वे जब चुप रहते या कुछ सोचते रहते तो मैं मजाक करता था कि भैया अब भाभी मत रहो। कुछ बोलो तो। मंजू दीदी भी भाभी की प्रतिमूर्ति। कुल मिलाकर मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि इन दोनों प्राणियों ने अपना सब कुछ भैया को सौंप दिया। मंजू दीदी जब पढ़कर लौटीं तो फिर उन्होंने ज़रूर एक हद तक उन्हें सँभालने की कोशिश की।

उनके सभी भाई उनसे बेहद डरते रहे। यह उनके प्रति गहरे सम्मान का लक्षण था। उनके ठीक बाद के अनुज ठाकुर महेन्द्रसिंह भी उनसे कुछ बोल नहीं पाते थे। हमारी अन्तरंग मण्डली उन्हें 'सद्दाम हुसैन' के नाम से भी पुकारती थी। सारे भाई, सारी बहनों का उन्हें बेहद प्यार मिला। तमाम रिश्तेदार भी उन्हें भैया के नाम से ही पुकारते। 'भैया' के अलावा उनकी कोई पहचान नहीं थी। उनसे मतभिन्नता रखने वाले भी उन्हें मन से चाहते थे। एकाध अपवाद को छोड़कर, सभी से उनका संवाद था और निरन्तर था। उनके सारे विरोधी यदि उनकी आलोचना करते तो लगता था अपना बचाव कर रहे हों। जानते थे कि यह शख़्स चाहे जैसा व्यवहार में हो, जनता तो सच्चे मन से इसी और सिर्फ इसी शख़्स से प्यार करती है। उनका विकल्प बनने का माद्दा न तो उनके जीते जी किसी में था और आश्वस्त हूँ कि भविष्य में भी नहीं होगा। वे 'न भूतो न भविष्यति' थे। अपने भाग्य के खुद नियामक, अपने हाथ की रेखाओं को अपने पौरुष से बदल देने की संकल्प शक्ति रखने वाले आत्मविश्वासी व्यक्तित्व और ताप्ती की मिट्टी से गढ़े ऐसे लौह मनुष्य जिसकी दृढ़ता की मिसाल कहीं मिल नहीं सकती क्योंकि वे

अपनी मिसाल खुद थे। ऐसा भी नहीं कि उनमें कमियाँ नहीं थीं। वे भी खूबियों की तरह खूब थीं। नाराज़ होने में देर बिल्कुल नहीं लगाते थे। जब नाराज़ होते तो भान नहीं रहता, शायद यह निमाड़ में पाई जाने वाली लौंगिया मिर्च का कमाल था, उस ठेसे का प्रभाव था जो सिर्फ हरी मिर्च से बनता है और जो उन्हें सर्वाधिक प्रिय था। अड़ियल थे। जो दिमाग में फितूर सवार हो गया, वह हो गया। फिर उसके परिणामों पर विचार नहीं करते थे। परखने की क्षमता तो थी ही नहीं, हाँ अन्तर्दृष्टि बड़ी प्रखर थी। किसी के समझाने से कभी नहीं समझे। आज भी कोई ऐसा शख्स मौजूद नहीं होगा जो कह सके कि भैया ने उसकी बात शत–प्रतिशत मान ली। अपनी आर्थिक अवस्था के बारे में घोर लापरवाह। कोई योजना नहीं। और भी ऐसी कमियाँ जो हमारी नज़र में कमियाँ हों मग़र इन्हीं कमियों ने उन्हें शिवकुमार बनाया।

एक अन्तरंग संसार था, मैं, दत्तूभाऊ, सनमानसिंह, पाण्डेजी, अर्जुनसिंह, स्व. रामभाऊ, स्व. डॉ. बांदिल, हारून सेठ, वह दुनिया भैया के जाने से उजड़ गई। दो साथी अचानक चल दिए और फिर वह क्लब सूना हो गया। हम मित्रों का एक क्लब था जिसे नाम दिया था 'बी क्लब' मतलब बाल क्लब। इसके सदस्य नए नहीं बनाए जाते थे। वे घटते ही गए बाल क्लब का अर्थ था जब क्लब के लोग इकट्ठे हो तो सब बच्चे बन जाएँ। उन्हीं की तरह उन्मुक्त हँसी, निश्छल वार्तालाप और खुलापन। इस क्लब में ताश खूब खेली जाती थी। भैया को बड़ा शौक था लेकिन बाद में बंद कर दी। इसी तरह तम्बाखू भी खाते थे। जब मिलते तो सबसे पहले कहते 'निकालो ज़हर की पुड़िया'।

अपने घर में जब भी घुसता हूँ। हर चीज़ को देखकर उनकी याद आती है क्योंकि घर की कुर्सी से लेकर चाय के कप तक उनकी टिप्पणियाँ चस्पां हैं।

वे अचानक चले गए चल दिए और भूल गए कि लौटना भी है। अच्छे–भले चुनाव जीतकर मतगणना समाप्ति के बाद खण्डवा से ट्रेन से आए, बुरहानपुर रेलवे स्टेशन पर भारी भीड़, उनके डिब्बे से उतरते ही गुलाल उड़ने लगा, मालाओं की झड़ी लग गई, अचानक वे गिर पड़े। फिर होश आया ही नहीं। रात के एक बजे खण्डवा से जय का फोन आया, फिर निरन्तर घण्टी बजती रही, मैं समझता रहा जीत के जश्न में कहीं नज़र न लगे इसलिए यह ख़बर उड़ाई गई लेकिन भरोसा कर लेने की मजबूरी थी इसलिए कि भैया ने कभी किसी का भरोसा नहीं तोड़ा था। वे अपने चले जाने का विश्वास कैसे टूटने देते ?

उनके जाने के बाद से आज चौबीस बरस बाद फिर यह लगने लगा कि मैं अपने घर में सबसे बड़ा हूँ। कोई बड़ा भाई नहीं। 'भैया' नहीं।

यह अपना निजी अनुभव है। इसे इसलिए बाँट लेना चाहता हूँ कि यह अनुभव वैयक्तिक नहीं है। इस छोटे से क़द के इतने बड़े मनुष्य को जान लेना भी कहीं अपने आपको सम्पन्न करना है। वे भले कभी किसी ओहदे पर नहीं रहे. समर्थ होते हुए भी, यह उनका सिर्फ अपनी मिट्टी के लिए समर्पण था। दुनिया में आने और जाने के सिलसिले को कहाँ विराम पाना है

लेकिन इस सिलसिले के बीच कोई ऐसी शख्सियत सामने आ जाती है जो यह यकीन भी दिलाती है कि जीने और मरने में कोई अन्तर शायद नहीं होता, मरकर भी सदैव के लिए जिया जा सकता है और जीने का मतलब सिर्फ साँसों का उतार चढ़ाव नहीं है, जीने का मतलब बिना साँसों की परवाह किए निरन्तर चलते रहना है। 'भैया' चलते रहे, चलते रहे, चलते रहे और इतनी दूर चल दिए कि उन्हें पकड़ पाना भी असंभव है, उनका लौट पाना भी मुमकिन नहीं। उन्होंने शिवत्व को साकार कर दिया। जीवनभर विष पिया लेकिन बाँटा अमृत।

उनके लिए सुबह और शाम में कभी फर्क नहीं रहा। जीवन में उगने वाले प्रभात को उन्होंने जितनी विनम्रता से नमन किया, उतनी ही शालीनता के साथ ढलती साँझ की किरनों को भी अपनी बाँहों में समेटा। वे खुद सूर्यपुत्र थे। अँधेरों की परवाह उन्होंने कभी नहीं पाली इसलिए शाम कहाँ गुजरेगी इसकी भी कोई चिन्ता उन्हें नहीं रही। बहुत समझाया लेकिन समझे नहीं। जिसके दिल में चिराग़ही–चिराग़ हों वह उनकी बात क्यों मानता जो अंधेरों से डरते हैं :

दिल में हैं सौ चिराग़ अंधेरों की फिक्र क्या,
अब जिंदगी की शाम कहीं भी गुज़ारिए।

चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ !

चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, के शोर से आसमान भर गया। इस लोकप्रिय गाने की धुन गली–गली गूँज रही है। शब्द नहीं गूंजते, वास्तव में, धुन गूँजती है। शब्द जब तक धुन में न गूँथ दिए जाएँ, तब तक वे गीत नहीं बनते। जब गीत बन जाते हैं तो फिर स्थिर नहीं रहते। चलते हैं, दौड़ते हैं, उड़ते हैं और यही चलना, दौड़ना और उड़ना गुंजन कहलाने लगता है। ज़्यादातर लोग शब्दों के अर्थ नहीं जानते, लेकिन धुन की माधुरी में डूबना बखूबी जानते हैं। धुन में डूबने के लिए अर्थ तलाशने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। धुन में डूबे रहें तो अनायास मन गूँज उठता है और बिना शब्दों का सहारा लिए यह गुंजन कंठ से ऊपर उठकर थिरकने लगता है जिसे हम गुनगुनाना कहते हैं। गुनगुनाना मन के गुंजन की परिणति है। इस गाने की धुन कुछ इसी तरह का मन में गूंजने वाला गुंजन है जो बार–बार कंठ से ऊपर आने को आतुर होता रहता है। मुझे नहीं मालूम किस फ़िल्म का गीत है ? किसने लिखा ? किस पर फ़िल्माया ? किसने गाया ? इसकी धुन मोहती है और उसमें गुंथे शब्दों का यह आह्वान भी कि चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ।

छाँह में चलने का इतना रागात्मक आग्रह, एक लय से भरपूर मनुहार, प्यार में पगी यह धुन, बहुत मोहक है। हरेक को खींचती है, बाँधती है। धुन सुनते ही लोगों के तन और मन दोनों डोलने लगते हैं। बहुत धूप है चलो छाँह में। छाँह में जाने का सदैव मन होता है। छाँह सहारा है धूप से बचने का। कुदरत ने धूप है दी ग्रीष्म में तो घने वृक्षों की छाँह भी दे दी, लेकिन विडम्बना यह है कि अब ये घने छाँहदार वृक्ष भी धीरे–धीरे विलुप्त होते जा रहे हैं और जाने कब से विलुप्त होते जा रहे हैं। रहीम के समय से ही इनकी कमी महसूस होने लगी। बड़े आर्द्र स्वर में रहीम ने कहा था :

> रहिमन अब वे बिरछ कहँ जिन की छाँह गंभीर।
> बागन बिच बिच देखियत सेंहुड़, कुटज, करीर।।

वृक्षहैं भी तो वे काँटेदार हैं, छाँह उनसे मिलती नहीं, रहीम के समय में तो कम–से–कम रहीम जैसे घने आम्र वृक्ष थे, लेकिन अब तो रहीम जैसे आम्र व्यक्तित्व ही नहीं। जो हैं वे कैसे हैं? सभी जानते हैं। मनुष्य आज हरे–भरे वृक्ष के रूप में नहीं दीखता। वह या तो निरा ठूंठ हो गया है या बबूल का ऐसा तना जिसके काँटे, छाँह नहीं देते, चुभन देते हैं। आज चारों ओर धूप–ही–धूप दिखाई दे रही है, न तो समाज में शाल व्यक्तित्व हैं न वनों के बीच घने आम्रवृक्ष। ऐसे परिदृश्य में आकुलता और गहरी हो जाती है और बार बार कंठ से यही टेर उठती है, चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ।

मीर सदियों पहले कह गए :

> हाय क्या चीज़ ग़रीब बुलवतनी होती है।
> बैठ जाता हूँ जहाँ छाँह घनी होती है।।

निर्वसन की गहरी पीड़ा की यह उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति है। बिना घर के भटकते रहने की जिसकी नियति हो उसके लिए अपना घर वह छाँह है जो घनी हो। इसी छाँह में निरन्तर चलने वाला मुसाफिर कुछ देर बैठकर सुकून पा लेता है। थके हुए, निढाल और भूखे परेशान आदमी को न तो कोयल के स्वर बाँध पाते हैं, न हरे पल्लवों के तोरण और न झूठे आश्वासन। माणिक वर्मा सही कहते हैं भूखे आदमी से यदि चंदनी देह भी लिपटे तो वह उसे नागपाश की तरह लगती है।

भूख से पेट में फ़ाकों की आग लगती है।
चंदनी देह भी लिपटे तो नाग लगती है।।

इस धूप के तीखे अहसास ने जाने कितनी अनुभूतियाँ जगा दीं। आदमी अपने घर से निर्वासित होकर छाँह की तलाश में भटकता है तो उसे अवलम्बन देने वाले शाल व्यक्तित्व एक नज़र नहीं नज़र आते। वह खुद भी बड़ा निढाल, थका हुआ और बेबस है। उसका मन गहरे अवसाद में डूबा है। चारों ओर फैली निराशा उसे घेरे हुए है, निराशा की तपन से झुलसते मन की बस एक ही पुकार है, चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ।

देश जब स्वतंत्र हुआ तो यह आशा जागी कि अब परतंत्रता के धूप–भरे दिन बीते। लेकिन बड़ी ज़ल्दी ही यह आशा टूट गई। स्वतंत्रता का कभी अर्थ छाँह नहीं होता। स्वतंत्रता की अपेक्षा थी कि हम अपने स्वतंत्र देश में अपने परिश्रम से ऐसे प्रकाश वृक्ष रोपें जिन पर उपलब्धियों के फल लगें, इन वृक्षों के नीचे खड़े होकर सारे भेद भूलें और इन वृक्षों के पोर–पोर से फूटते आलोक से इस देश की ज्योतिर्मय अस्मिता रच दें। मगर रचाव का यह मंतव्य अभी तक पूरा नहीं हो पाया। प्रगति हुई, उपलब्धियाँ मिलीं, पाँव आगे बढ़े, लेकिन यह कसक बरकरार रही कि जो हो सकता था वह नहीं हुआ। इस कसक का कारण निरन्तर छाँह को तलाशने की मानसिकता है। धूप को सदैव असहनीय मानने का भाव और इस धूप से बचने के लिए छाँह को खोजते रहने का यत्न ही रचाव की यात्रा पूरी तरह आगे नहीं बढ़ा पाया। इस यत्न को करने में लगा समय व्यर्थ चला गया। छाँह तन को सुकून पाने की सुविधा देती है, इसलिए छाँह की तलाश करने की ललक मन में बनी रही। धूप अवांछित कभी नहीं होती। ठण्ड में सबसे ज़्यादा वांछित धूप ही होती है और घनेरे मेघ जब धरती को वर्षा काल में ढँक लेते हैं तब धूप के एक–एक टुकड़े की तरस मन में बनी रहती है। लेकिन जब ग्रीष्म में धूप का तीखापन आकुल करने लगता है, तब वह असहनीय हो जाया करती है। धूप के संदर्भ में ऐसी विपरीत अनुभूतियों का एक ही कारण है और वह है धूप को खण्ड–खण्ड में देखने की आदत। धूप का वह खण्ड मोहक लगता है जो तन को सुविधा देता है ठण्ड में, बरसात में, और वह खण्ड असहनीय है जो गरमी में तपा देता है तन को। यह धूप को खण्डित करते हुए उसे अनुभव करने का प्रतिफल है। धूप का अनुभव अखण्डित वाह के रूप में किया जाए तो फिर ऐसी अनुभूतियाँ नहीं होंगी। नदी का प्रवाह कहीं उद्दाम और कहीं शिथिल होता है पर इससे नदी की दिशा नहीं बदलती, उसका स्वरूप नहीं बदलता, उसके प्रवाह को चाहे वह शिथिल हो या बेगवान, आत्मसात करने का मन होता है, यह नहीं लगता

कि धीमे प्रवाह को देखें नहीं और उद्दाम प्रवाह को अनवरत निहारते रहें। नदी के प्रवाह की तरह धूप को देखने की दृष्टि नहीं है और यही वजह है कि ये संगीतमय शब्द बड़े लुभावने लगते हैं, चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ।

संस्कृत के एक अनाम कवि 'सदुक्तिकर्णामृत' के रचनाकार, श्रीधरदास का एक श्लोक है:

आहूतो हालिकेनाश्रुतमिव वचनं तस्य कृत्वा क्षणैकं
निष्ठासु – स्तब्धरोमा कथमपि विटपं निःसमीरं विहाय

अर्थ है :

घनी छाँह वाला, हवा को छेंके, एक बड़ा सा पेड़ था वहाँ
स्तब्ध लाचार, उस की छाया में वह खड़ा रह गया था।

इस श्लोक में खेत में काम करने वाले एक मज़दूर का वर्णन है, जिसे भरी धूप में खेत में काम करने के लिए खेत मालिक आवाज़ लगाता है और वह मज़दूर जिसे चोट लगी है, घनी छाँह वाले वृक्ष के नीचे स्तब्ध खड़ा है। अक्सर ये घनी छाँह वाले पेड़ भी भोले–भाले कर्मपुत्रों को बरगला देते हैं। खेत की मेंढ़ पर उगे इन बड़े वृक्षों की छाँह काम करते आदमी को ललचाती है, वह काम छोड़कर इन के तले खड़ा हो जाता है, फिर एवज़ में या तो मज़दूरी से हाथ धो बैठता है या अपने मालिक से डाँट खाता है। तपन में काम करने की निरन्तरता बनी रहे तो छाँह के मोह में फँसने से बचा जा सकता है। इसका यह आशय नहीं कि आम, जामुन, पीपल या शाल जैसे घने वृक्षों की छाँह से परहेज़ हो, सवाल छाँह के उस व्यवहार का है जो धूप सहने की आदत में बाधक बनकर मनुष्य की कर्मशक्ति का क्षय करता है। यह कहावत बेमानी नहीं है कि वट के नीचे छोटे पौधे पल्लवित नहीं हो पाते। वट की घनी छाँह किसी पौधे को अपने तले पल्लवित न होने दे या धूप से बचने का यत्न करता कोई कर्मठ मनुष्य किसी पीपल या जामुन के वृक्ष के तले बैठा रह जाए, अपने खेत को जोते बिना, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। छाँह यदि पल्लवन और विकास में अवरोधक बने तो फिर उस छाँह की शीतलता व्यर्थ है। यही निष्फल शीतलता जिसके पास अपना संगीत, अपनी धुन और अपनी लय का मोहपाश होता है, जब बाँधती है मन को, तब वह गाने लगता है, चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ।

यह समय कुछ ऐसा है जब ज़्यादातर लोग छाँह की ही तलाश करते धूप से बचने का जतन करने में लगे हैं। इन सबकी यही कोशिश है कि उन्हें कोई आम मिल जाए, पीपल, जामुन या वट जिनके नीचे वे तसल्ली से शीतल छाँह में बैठ जाएँ। एक प्रतिस्पर्द्धा जन्म गई है छाँह में जल्दी–से–जल्दी जा पाने की ताकि धूप से बचे रह सकें। इस प्रतिस्पर्धा का यह फल भी चाहते हैं कि सिर्फ उन्हें ही छाँह मिले और बाकी लोगों को धूप। ऐसे छाँह चाहने वालों के पास संगीत है, लय है, मनचाहे सुर हैं क्योंकि ये सम्पन्न हैं और आज तक इसी

मोहक धुन के बल पर इन्होंने कभी धूप नहीं देखी। इसी मोहक धुन ने इन्हें समृद्ध भी बनाया है क्योंकि धूप को सहन कर लेने के फल मिलने लगे।

धूप हमारी नियामक है। अब धूप में सफर करने की आदत डालनी होगी, उसकी तपन की सुनहली स्याही से अपने भाग्य की रेखाएँ खींचनी होंगी। यह सचाई समझना ज़रूरी है कि छाँह में जो बैठे रहे वे पंगु हो गए उनकी गति का चक्र थम गया। छाँह सदैव प्रेरक नहीं है, वह यात्री को रोक भी देती है, स्थिर कर देती है। छाँह में निरन्तर बैठने वाले, उसकी तलाश में निरन्तर भ्रमित होकर भटकने वाले अब बैचेन भी हो रहे हैं। वे चाहते हैं भटकें नहीं, जड़ न हो जाएँ, आगे बढ़ें, और आगे सिर्फ धूप में बढ़ा जा सकता है।

धूप निर्मम नहीं है, उसके पास भी अपना संगीत, अपनी धुन और अपने स्वर हैं। उन्हें सुनने की कोशिश करें। लू के थपेड़ों की थाप पर धूल भी बगूले की शक्ल में नाचती है और पीले पत्ते अपने आप दोपहर में निरन्तर झरते रहकर अपनी यात्रा की परिपूर्णता की कथा एक राग में सुनाते हैं। गुलमोहर, अमलतास और बोगनवेलिया के फूल, पलाश, नीम और नीलगिरि के हरियाए पत्ते पूरी मस्ती से धूप के इस संगीत में डूबते हैं।

ग्रीष्म की यह धुन जीवन के संघर्ष की धुन है। धूप की इस धुन के गुंजन को अपने आपमें बसा लेने का अर्थ आने वाले पावस की शीतलता की प्राप्ति का आह्वान है।

यह धूप राग निष्फल नहीं हो सकता, है भी नहीं। इसी राग को यदि संजो लिया अपने आपमें तो फिर इस बाहरी, निष्फल और पलायनवादी धुन से अपने आप मुक्ति मिल जाएगी, जिसके बोल गूँज रहे हैं – चल छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ, छैयाँ।

खुल गईं छतरियाँ

बारिश आ गई। ठंडक घुल गई मौसम में। तपन बरसाने वाली हवाएँ अचानक नम हो गईं। उनके रुख को देखकर लगा जैसे बहुत क्रोध में आए किसी व्यक्ति के मन में अचानक करुणा फूटी और आँखें डबडबा उठीं। पहले नीले आकाश को हौले–हौले मेघों ने ढंका, फिर नन्हीं–नन्हीं बूँदें धरती पर कतार–दर–कतार बरसने लगीं। हवाओं के इशारे पर वे हिलोरें ले–लेकर धरती और आसमान के बीच डोलने लगीं। मेघों के माथे पर छलकने वाले स्वेद बिंदु इकट्ठे हो धरती पर बरसने लगे। सूखी, रूठी धरती कुछ देर तक अपना क्रोध उमस के रूप में प्रगट करती रही, फिर मान गई और उमस बदल गई सौंधी गंध में। मिट्टी दरकने लगी, गंध के झरने फूट पड़े, पीली दूब को समझाने लगे मिट्टी के गीले रखे, इन पर बिछने लगीं बूँदें फिर सब एक हुए, मिट्टी ने समो लिया पानी को और दोनों मिलकर बहने लगे, खेतों में, सड़कों और पगडण्डियों पर। बच्चे निकल आए पानी भरे आँगनों के बीच, क़ाग़ज़ की नावें तैरने लगीं, बत्तियाँ गुल हुईं, मोमबत्ती और कन्दील जलीं। रातों का सन्नाटा टूटा, शोर गूंजने लगा। पीली दूब हरी हो उठी, पेड़ की टहनी–टहनी पखेरुओं के कलरव से गुंजार होने लगी। ताप की हार का उत्सव मनने लगा।

पहली बारिश तपन की पराजय का पर्व है।

इस पर्व के आते ही मन की कुम्हलाई कोंपलें हरी हो जाती हैं, सिमटे अंग खुलने लगते हैं, बंद कली की खुलती पांखुरियों की तरह। हाथ छतरियों को थामे निकल पड़ते हैं और बँधी छतरियाँ खुल पड़ती हैं।

गाँवों में टाट के बोरे होते हैं जिन्हें बरसाती की तरह का आकार देकर सिर से कमर तक ओढ़ लिया जाता है। यही छतरी है उन ग्रामीणों की जिन्हें बरसते पानी के बीच खेतों को जोतकर बुवाई के लिए तैयार करना होता है। दूसरी तरफ़ तरह–तरह की रंगीन, अपने आप खुलने वाली छोटी–बड़ी छतरियाँ होती हैं जो बारिश के पानी से बचने का बहाना होती हैं मगर इन छतरियों को खोलकर लोगअपनी समृद्धि के सामर्थ्य का प्रदर्शन करते हैं।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कांगड़ा शैली में बनाया गया एक मनोरम लघुचित्र प्रिंस ऑफ वेल्स म्युज़ियम मुम्बई में है। घने काले मेघ जिन पर सुनहरी करधनी की तरह लिपटी दमकती बिजली, चारों ओर भींगती प्रकृति, पत्ता–पत्ता भींगा हुआ और इनके बीच खुली गोल छतरी के बीच राधा कृष्ण खड़े बरसात को निहार रहे हैं। एक हाथ से सिर पर ढँकी साड़ी से निकले पल्लू को हाथ से पकड़े राधा बारिश को निहार भी रही हैं और अपनी आधी देह कृष्ण की देह के पीछे ओट में रखने का जतन भी कर रही हैं। पीताम्बरधारी कृष्ण के हाथों में खुली हुई गोल छतरी है जिसे वे आश्वस्त भाव से थामे हुए हैं। विलक्षण लघुचित्र है, टीले पर खड़े राधा–माधव और दोनों के सिरों पर खुली हुई गोल छतरी। जो कृष्ण का आत्मविश्वास है वही छतरी का भी है। बाहर धरती का कण–कण भींग रहा है और छतरी के तले दोनों के

मन।बरसात अनवरत हो रही है लेकिन बरसात से भींग जाने की कहीं कोई आशंका उनके खिले हुए चेहरों पर लेश मात्र को नहीं।

विभिन्न पहाड़ी और राजपूत शैलियों में चित्रित किए गए इन लघुचित्रों में चितेरों ने जिन छतरियों को उकेरा है वे छतरियाँ सजी–धजी ज़रूर हैं लेकिन हर खुली छतरी किसी को अपने समीप लाने, उसे बरसात से बचाने, पावस के झरते रस को निरन्तर निहारने की मनुहार करती दीखती है। किसी भी खुली छतरी की यह आकांक्षा नहीं है कि दर्शक उस छतरी को निहारें, उसकी भावना यही है कि उस छतरी के नीचे जो आत्मीय सामीप्य दीख पड़ रहा है, आँखें उसी को समेट लेंमध्यकाल में बनाए गए इन लघुचित्रों में दीख पड़ती ये खुली छतरियाँ आज की रंगबिरंगी और केवल आभिजात्य को प्रदर्शित करने वाली छतरियाँ नहीं हैं। मध्यकालीन लघुचित्रों में चित्रित ये खुली छतरियाँ उस काल के उदार मनुष्य की उदात्त चेतना को अभिव्यक्त करती हैं।

आज जो बरसात आई है, उसमें जो छतरियाँ खुली हैं वे किसी उदार चेतना वाले मनुष्य का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। कड़कती बिजली और झमाझम बरसते पानी के बीच छतरियाँ खोलकर जो लोग सड़क पर निकलते हैं उनकी यही कोशिश होती है कि किसी तरह खुद बचे रहें भींगने से। उन्हें यह भय सताता है कि कहीं कोई ऐसा न मिल जाए जो पनाह माँग ले। हरेक अपनी छतरी केवल अपने लिए चाहता है। कई तो ऐसे भी हैं जो बंद छतरियाँ लेकर भींगते हुए सड़क पर दौड़ते निकलते हैं, उन्हें यह डर सताता है कि कहीं छतरी केवल खोल ली तो कोई उनसे मनुहार न कर ले। छतरियाँ खुली ज़रूर हैं लेकिन मन बंद हैं। पहले भले छतरियाँ बंद रहती हों, मन खुले रहते थे या जैसी छतरियाँ खुली रहती थीं उसी तरह मन भी खुले होते थे। आज ऐसा नहीं है। इसके कई कारण हैं लेकिन सबसे बड़ा कारण है मनुष्य का सिर्फ अपने लिए अपनी छतरी खोलना। छतरी को खोलने के बाद किसी को उसके साये में पनाह देने का भाव ही तिरोहित हो गया।

मनुष्य ने अपनी तरह मूक छाते को भी असामाजिक बना दिया। आदमी समाज में रहते हुए भी असामाजिक हुआ, अलग–थलग, अपनी परिधि में सिमटाअपने वृत्त में गोलाकार परिक्रमा करते–करते वह यह भी भूल गया कि इस वृत्त बाहर भी बहुत कुछ ऐसा है जो वास्तव में उसका अपना है। पृथ्वी गोल है लेकिन आदमी की अपनी दुनिया गोल नहीं है। छतरी भी गोलाकार है ज़रूर लेकिन वह पृथ्वी की तरह नहीं है। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती भर रहती है लेकिन छतरी हो या मनुष्य उनकी नियति घूमना–भर नहीं है। उनके अपने सरोकार हैं, दायित्व हैं, कर्त्तव्य हैं। इन दोनों के सरोकार भींगने से बचने और बचाने के हैं, इनके दायित्व हैं सुरक्षित रहना और रखना तथा इनके कर्त्तव्य हैं अपने साये में ऐसों को समेट लेना जो भींग रहे हैं।

मनुष्य सामाजिक हो तो उसके हाथ में थमी छतरी भी सामाजिक होगीमनुष्य आज या तो निरा वैयक्तिक है या सामूहिक। सामाजिक तो बहुत कम हैअपने निजस्व में घिरे रहना या जो दूसरे जैसा जी रहे हैं, उन्हीं के साथ मिलकर उन्हीं की तरह जीने लगना, उसके स्वभाव

में आ गया है। जब कि सामाजिकता बिल्कुल भिन्न है। वह आदमी की निजता को तोड़कर उसे समग्रता से जोड़ती हैवह उसे केवल समूह का प्राणी भर बने नहीं रहने देती। आज इसी सामाजिक भाव की ज़रूरत है। दिक्कत यह है कि इस समूह में जीने वाले मनुष्यों की तादाद ज़्यादा है। इसलिए समूह को समाज कहा जाने लगा और इनमें जो बिरले सामाजिकव्यक्ति हुए उन्हें नकारा गया। समूह के प्राणी भले हो गए और अकेले सामाजिक अस्तित्व बुरे। कैफ भोपाली का यह कहना शायद यही इंगित करता है :

धड़कनों की नगरी में, वलवलों की बस्ती में
हमने घर बनाया है, ज़लज़लों की बस्ती में।
गालियों की बारिश है, पत्थरों की आँधी है
एक मैं बुरा निकला सब भलों की बस्ती में।

इस बारिश के मौसम में लगता है जैसे घर में रहकर गलती कर रहे हैंबरसते आसमान के नीचे भींगते रहते तो मुक्त रहते, बरसात को आत्मसात कर लेते तो तन भी भींगा रहता और मन भी। घर में बरसात से बचने का उपक्रम करते बैठे हैं तो उसका भय सताता है। भींग न जाएँ, ठंड न सताने लगे, रुग्ण न हो जाएँ ये सारी आशंकाएँ घेरे रहती हैं। लेकिन इस देश में ऐसे असंख्य हैं जो मजबूरी में सिर पर छत न होने के कारण बरसात में भींगते रहते हैं। इन्हें कभी ठिठुरते नहीं देखा, रुग्ण होते भी नहीं देखा, बरसात को कोसते भी नहीं देखा, उस किसान को तो भर बरसात में टाट ओढ़े खेत में बोवनी की तैयारी करते उत्फुल्ल ही देखा है जो बरसात की बेसब्री से बाट जोहता रहता है। ऐसा नहीं है कि मजबूरी के कारण यह उल्लास जन्मता हो। वास्तविकता तो यह है कि हमारे देश का जो आम आदमी है, जो जमीन से ही जुड़ा हुआ है, जिसे अपनी विपन्नता के दुःख नहीं सताते वही आदमी सच्चा आदमी है क्योंकि वह प्रकृति के बीच रहकर स्वाभाविक जीवन जीता है और पावस की भी अगवानी उसी उल्लास से करता है, जिस उल्लास से ग्रीष्म की।

छतरियाँ सहेजने वाले और बरसात आने पर उन्हें खोलकर, बारिश से बचाव करने का यत्न करने वाले बहुतेरे हैं लेकिन उनकी खुली हुई छतरियाँ उन लोगों के लिए नहीं हैं जो भींग रहे हैं। वे लोग बीते वक्त के लोग हैं जो छतरियाँ इसलिए सहेजकर रखते थे कि वे भले खुद भींग जाएँ लेकिन इन छतरियों के साये में भींगने वालों को बचाया जा सके। उन्हें बचाया जा सके जिनके पास छतरियाँ नहीं हैं। जिनके पास छतरी नहीं और न जिन्हें इन छतरियों की चाह है ऐसे लोग प्रकृति के अवदान का सार्थक प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा ऐसे लोग जिनके पास यह भाव है कि उनके छाते के नीचे आकर लोग बरसात से अपना बचाव कर सकें वे भी निसर्ग के सच्चे प्रतिनिधि हैं क्योंकि उनकी छतरियाँ पावस की निर्मल झरती बूँदों का प्रतिरोध नहीं करतीं, उनके आगमन का अभिनन्दन करती हैं।

इन खुली हुई छतरियों को सिर्फ छतरियाँ न समझें तो शायद बहुत कुछ समझा जा सकता है। यह समझा जा सकता है कि ये छतरियाँ कहीं हमारे उस मानुष भाव की अभिव्यक्ति हैं जो भाव सहज रूप से हरेक छोटे, बड़े, निर्धन और समृद्ध, असमर्थ और समर्थ को अपने

साये में समेट लेने की संवेदना जमा देता है। यह समझा जा सकता है कि ये खुली छतरियाँ सिर्फ बरसते पानी से बचाने के लिए नहीं हैं, ये तपन से आँधी और तूफान से भी बचा सकती हैं, ये खुली छतरियाँ अपने आपमें सिमटे रहने वाले मनुष्य का समाज में घुल–मिल जाने का आह्वान करने वाली पुकार हैं। ये अलग–अलग रंगों की होते हुए भी सारे रंग–भेदों को दूर करने के लिए उठी हुई आवाज़ है। ये वे हैं जिनसे मनुष्य की उदारता परिभाषित होती है। ये खुली हुई छतरियाँ सिर्फ कमानी और कपड़े से बनी वस्तु मात्र नहीं हैं बल्कि एक खुले मनुष्य की प्रतिनिधि प्रतीक हैं। ये छतरियाँ जागरण है उस सोई चेतना का, जो जागेगी तो संकल्प का सबेरा होगा और इस भोर की उजास के शब्दों से निर्माण के छंद रचे जा सकेंगे।

खुली छतरी भले किसी एक के पास हो लेकिन यह आश्वस्ति उन सभी को हो कि वे भीगने से सुरक्षित रहेंगे, जिनके पास कोई छतरी नहीं है। यदि ऐसा हो पाया तो फिर हरेक की चाहत होगी कि बरसात जल्दी आए, ज़रूर आए और खूब मेघ बरसें। आज किसी की चाहत रंगों के बरसने की नहीं है, चाहत सिर्फ़ बरस जाने की है। भरोसा यही चाहिए कि यदि बारिश भरपूर हुई भी तो सभी सुखी और सुरक्षित होंगे।

उम्मीद करें कि भले हरेक के पास छतरियाँ न हों लेकिन जो भी बरसे भरपूर बरसे क्योंकि बरस–दर–बरस बीतते चले जाते हैं मग़र असली बारिश का अनुभव नहीं हो पाता। यह तरस अब विराम चाहती है। बरसो मेघ खूब बरसो, घर–घर बरसो, ऐसे बरसो कि कोई तरस शेष न रहे। बशीर बद्र के लफ्ज़ भी यही कह रहे हैं :

कौन कहता है कि रंगों के फरिश्ते उतरें
जो भी बरसे इस बार तो घर घर बरसे।

तीसरा पाँव

शीर्षक सौ फीसदी कहानी का है, किस दशक की कहानी का हो सकता है, इसकी जानकारी नहीं है। लेकिन जो लिखा जा रहा है वह कहानी है नहीं। कहानी के लिए घटनाओं को कल्पना की डोरी से गूँथ देने का हुनर चाहिए इस हुनर से मरहूम हैं। बस शीर्षक–भर सूझ गया है। शीर्षक के बाद जो कुछ है वह अनुभवों को बटोरकर सहेज देने की कोशिश भर है।

हर शहर में, गाँव में अक्सर किसी सजे–सजाए ठेले पर खड़ी पाँच पैरों वाली बछिया दीख जाती है। इसके पैरों तले एक पुजारी बैठा रहता है और ठेले की गति के साथ अपने पाँवों की गति मिलाता एक और व्यक्ति जो सड़क पर चलती जनता को इस चमत्कारिक बछिया के जन्म की कहानी सुनाता, उसके दैवीय गुणों की चर्चा करते चलता है। लोग सुनते हैं, कुछ आगे बढ़ जाते हैं, कुछ उसके पाँव छूते और पैसे चढ़ाते हैं। कुछ संदेह करते हैं कि है तो साधारण बछिया ही, लेकिन एक और पैर शल्य–चिकित्सा से जोड़ दिया गया है।

इस बछिया को देखकर जाने कितने लोग अचानक याद आने लगते हैं। सभी के दो पैर हैं, जो सभी को दिखते हैं लेकिन एक और तीसरा पाँव भी है जो उनके व्यक्तित्व से चिपका हुआ है। मेरे मित्र हैं अच्छे भले। मगर जैसे ही कोई मिलने वाला घर आया, उनके चेहरे पर कृत्रिम मुस्कान खेलने लगती है। वे बेहद सौम्य हो उठते हैं मगर मन–ही–मन बेचैन होते रहते हैं। कोशिश करते हैं, यह व्यक्ति चला जाए। उनकी मुस्कान देखते ही बच्चे पाँच मिनिट में पानी, सात मिनिट में नाश्ता और दसवें मिनिट में चाय टेबल पर फटाफट रख जाते हैं। यदि देर होने लगे तो उनकी मुस्कान रौद्र होती जाती है, बच्चे काँपने लगते हैं। एक बार देखा कि नाश्ता लगने में देर हो गई तो उन्होंने बच्चों की तरफ देखकर बेमतलब ठहाका लगा दिया, नाश्ते की प्लेट बच्चे के हाथ से गिर पड़ी। बिना किसी के पूछे वे हरेक से कहते हैं, "यार मैं तो घर में हर आने वाले का मुस्कराहट से ही स्वागत करता हूँ।" वे मुस्कान वाले मिश्राजी के नाम से मशहूर हैं। कुछ नहीं करते मुस्कराते–भरहैं। कोई दूसरा मुस्कराकर स्वागत करने वाला उन्हें पसंद नहीं। वे खुद यदि किसी के घर अतिथि बनकर जाएँ और वह मुस्कराने लगे तो वे लड़ पड़ने की हद तक पेश आ जाते हैं। यही मुस्कान उनका तीसरा पाँव है। वे सबसे अलग पहचाने जाएँ इसी कोशिश में उन्होंने मुस्कराहट को चुन लिया है।

चारों ओर नज़र डाली जाए तो ऐसे जाने कितने प्रतिभाहीन व्यक्ति मिलेंगे जो अपनी पहचान अलग बनाए रखने के लिए जाने क्या–क्या जतन करते हैं। प्रतिभा हो तो खुद–ब–खुद पहचान अलग बनती है। कोई अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए या अपने काम को संजीदगी से पूरा करने के लिए परिश्रम करे तो यह परिश्रम उसकी पहचान बना देता है। लेकिन बिना प्रतिभा या परिश्रम के अलग दीख पड़ने के लिए जो जतन किए जाते हैं उनका उद्देश्य सिर्फ यही होता है कि वे भी इस बछिया की तरह श्रद्धा व आकर्षण के केन्द्र बन जाएँ।

एक अफ़सर मित्र हैं। उनके कमरे के बाहर चार–पाँच बल्ब लगे हैं। एक हरा है, एक लाल, एक पीला, एक नीला, एक गुलाबी। हर बल्ब के जलने का अपना अर्थ है। हरे का मतलब मिला जा सकता है, लाल का मतलब व्यस्त हैं कोई न मिले। पीले का मतलब कार्यालय वाले मिल सकते हैं, नीले का मतलब बाहर वाले मिल सकते हैं, गुलाबी का मतलब अतिव्यस्त, कोई दरवाज़ा भी न खोले। एक बार जब गुलाबी बल्ब जल रहा था, कमरे में घुसा तो देखा खर्राटे भर रहे थे। उनका ज़्यादातर समय टेबल पर लगे चार पाँच खटकों को दबाने में बीतता है। कहते हैं मैं बड़े करीने से काम करने वाला अधिकारी हूँ। उनके पास सिर्फ करीना है, काम नहीं। ये बल्ब ही उनकी पहचान हैं, उनके तीसरे पाँव।

साहबों में यह तीसरा पाँव ज़्यादा दिखाई देता है। एक साहब हैं जो ईमानदार मान लिए जाएँ इसलिए हमेशा फटा जूता और मुड़ी कालर वाला शर्ट पहनते हैं, यों उनकी तनख्वाह इतनी है कि वे बिना बेईमानी किए बढ़िया जूते और शर्ट पहन सकते हैं। एक ऐसे अफ़सर हैं जो अपने सख़्त होने का सबूत मातहतों को गालियाँ देकर दिखाते हैं, एक और हैं जो बेहद सौम्य, विनम्र और मृदुभाषी हैं, मगर दम्भी इतने कि यदि कोई अधीनस्थ भूल से नमस्ते करने में चूक जाए तो उसकी गोपनीय रपट इस तरह बिगाड़ दें कि वह जीवन भर पदोन्नत न होने पाए। वे चाहते हैं। कि एक विनयशील अफ़सर के रूप में वे जाने जाएँ। ज़्यादातर अफसरों का तीसरा पाँव उनका दम्भ, उनका अहं है जो अलग–अलग रूपों में दिखाई देता है। इसी दम्भ ने सारी नौकरशाही की क्षमता तबाह कर रख दी। इसी दम्भ से उपजे सँकरेपन ने लोक के प्रति प्रतिबद्ध रहने वाले लोक–सेवक को बुरी तरह लोक से काटकर रखदिया।

तीसरे पाँव की यह बीमारी छूत की तरह समाज के हर उस वर्ग में भी फैल गई जिसे समाज के लिए कुछ करना है या जो यह खोखला दावा करता है कि उसने देश या समाज के लिए बहुत कुछ किया।

ज़्यादातर साहित्यकार इसी होड़ में हैं कि उनकी किसी तरह अलग पहचान बन जाएँ यह पहचान रचना–कर्म के दम पर बने इसकी कतई ज़रूरत वे अनुभव नहीं करते। मेरे एक करीबी मित्र हैं। वे अपनी पहचान पुरस्कारों के दम पर बनाना चाहते हैं। वे पुरस्कार भी मैनेज कर लेते हैं। पूरी टीम है. उनके पास। तमाम पुरस्कारों की फेहरिस्त बनेगी, फिर साम, दाम, दण्ड, भेद को अपनाते हुए निर्णायकों का पता लगाया जाएगा, उन्हें हर तरह से साधा जाएगा, जो पुरस्कार के कर्त्ताधर्ता हैं, उन्हें इस हद तक मजबूर कर दिया जाएगा कि वे उन्हीं को पुरस्कृत करें। यह छोटे स्तर का उदाहरण है, वैसे पुरस्कार के मामले में एक–से–एक उदाहरण हैं। हिन्दी का इतिहास शायद साहित्य के इतिहास के रूप में कम और पुरस्कारी तिकड़मों के इतिहास में ज़्यादा जाना जाएगा। एक और वर्ग है साहित्यकारों का जो पुरस्कार ठुकराकर अपनी पहचान बनाना चाहता है। कोशिश करेंगे कि उनके नाम की घोषणा हो जाए, फिर लम्बा विस्फोटक वक्तव्य आएगा कि उन्होंने इस पुरस्कार को ठुकरा दिया।

दोनों ही तरह के लोग तीन पाँव वाले हैं। फिर कोई है जिसकी पहचान सिगरेट है, किसी की शराब, कोई अय्याशी कर अपने आपको महिमामण्डित करना चाहता है, कोई दो या तीन शादी कर, अपने आपको महिलामण्डित करना चाहता। बहुत से ऐसे हैं जो बग़ैर शादी किए महिलामण्डित हैं। किसी की दाढ़ी, किसी का झोला, किसी का ख़ास तरह का चश्मा, और भी जाने क्या क्या पहचान चिह्न हैं तीसरे पाँव के रूप में।

यही हाल राजनीति, संस्कृति, समाज–सेवा और इसी तरह के तमाम क्षेत्रों के महापुरुषों का है। विशिष्ट कैसे बन सकें इसके लिए कोई यत्न नहीं, जतन सिर्फ इसके लिए कि विशिष्ट दिखने कैसे लगें ?

बरसों पहले परसाई ने एक निबंध लिखा था 'दो नाक वाले लोग' और उन्होंने एक जगह लिखा था, "आदमी कोण से समझ में आता है"। परसाई के इस लिखे को ज़्यादा वक़्त नहीं बीता, लेकिन लोग इतनी तेजी से बदले हैं कि उन्हें अब कोण से देखकर पहचानने की ज़ेहमत नहीं उठानी पड़ती। अपनी दृष्टि साफ हो तो ऐसे लोग तुरन्त पहचान में आ जाते हैं। अब दो अलग–अलग नाक वाले या नाक की परवाह करने वाले लोग भी नहीं रह गए शहर नकटों का है जिसमें नाक वाले किसी छोटे–से कोने में किसी तरह गुज़र–बसर करते हैं। इन नकटों में होड़ है अपनी पहचान बनाने की। इने–गिने नाक वाले अपनी पहचान बने इसके लिए कतई उत्सुक नहीं हैं। ये बिना नाक वाले लोग चाहते हैं कि उनके अंगों की गिनती पूरी रहे इसलिए नाक गँवाकर दो की जगह एक तीसरा पैर अपने व्यक्तित्व में जोड़ना चाहते हैं। बिना नाक और तीन पाँव वाले लोगों की बढ़ती तादाद ने परसाई जैसे ऊँची नाक वाले और दो पाँव वाले जैसे जाने कितने सच्चे और पारदर्शी मनुष्यों को छीन लिया।

मनुष्य की मर्यादा मनुष्य बने रहने में है। दो हाथ, दो पाँव और एक नाक वाले आदमी ही चाहिए, क्योंकि तभी मनुष्य की अस्मिता का सन्तुलन कायम रह पाएगा। तीसरा पाँव जोड़ने से न तो अलग पहचान बनती है, न कोई श्रद्धेय होता है। इतिहास में, दर्शन में धर्म में जितने असाधारण व्यक्तित्व हैं वे सबसे पहले साधारण हैं। उनकी पहचान भी इसीलिए है क्योंकि वे मनुष्य के रूप में ही मूलतः जाने जाते हैं और यही उनकी असली पहचान है। यह मनोवैज्ञानिक सच है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्टता कुछ इस तरह प्रदर्शित करना चाहता है ताकि वह अलग दीखे, लेकिन यह विशिष्टता प्रदर्शन करने की कोशिश से नहीं बनती। यह विशिष्टता इस प्रदर्शन को रोकने के लिए किए जाने वाले प्रयत्न के कारण बनती है। विद्वान हों, अभिनेता हों, खिलाड़ी हों, कोई हों, वे जब अपनी नैसर्गिक प्रतिभा को अभिव्यक्त करते हैं तब यह प्रदर्शन नहीं होता, उनकी नैसर्गिक प्रतिभा का सहज प्रगटीकरण होता है। प्रदर्शन तब होता है जब सायास यह दर्शाने की कोशिश हो कि उन्हें इस विशिष्टता के कारण जाना जाए प्रदर्शन का आग्रह छद्म विशिष्टता का पर्याय है जबकि आग्रहशून्यता सहज प्रतिभा का स्वाभाविक लक्षण।

इस तीसरे पाँव की वजह से दो पाँवों की सहज गति को विराम लग गया। शरीर पर दो नाक हों, चार आँख हो, एक कान हों, तो देह विसंगत हो जाए उसका अनुपात कायम नहीं

रह पाए उसका अनुपात तभी कायम रह पाएगा जब वह वैसी ही हो जैसी प्रकृति ने बनाई है। पाँव दो ही ठीक हैं, तीसरे पाँव का अस्तित्व में आना देह का विकृतीकरण है। तीसरे पाँव का मतलब ऐसी अस्वाभाविकता है जो स्वाभाविक विकास को रोकती है। आज यदि तीसरे पाँव उग रहे हैं, देह पर चस्पा हो रहे या चेतना में कहीं अमूर्त रूप से चिपकने का यत्न कर रहे हैं तो इसका अर्थ यह है कि कहीं देश और मनुष्य दोनों की गति को विराम लग रहा है, इन दोनों के सौष्ठव में कहीं विसंगति जन्म रही है, मनुष्यता के सौन्दर्य की दीप्ति कहीं मंद पड़ रही है।

देह और मन को टटोला जाए, कहीं तीसरा पाँव तो नहीं जन्म रहा ? यदि ऐसा हो रहा हो तो यह जन्म रोकना होगा, क्योंकि कभी–कभी कुछ जन्मों को रोक लेने से, बहुत–से जन्म सुधर जाते हैं।

खजुराहो : 'बड़ो उजारो गेह'

खजुराहो पाषाणों में शिल्पित कविता नहीं, कहानी है। कविता संवेदना के सूरज से फूटती किरनों के अंश का एक घनीभूत पुंज है, जबकि कहानी इस सूर्य की हर किरन के हर व्यापार, मुद्रा, भंगिमा और उसकी अनन्त यात्रा के धुमावदार मोड़ों का जीवन्त आख्यान। कविता सब कुछ नहीं समेटती वह सिमटती है जबकि कहानी सिमटती नहीं वह सब कुछ को समेट लेने की आकुल प्यास से भरपूर बनी रहती है।

मानव के उदात्त मन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति के मनोरम शिल्प हैं खजुराहो के वे दिव्य मंदिर जिनमें मानवीय चेतना ने अपने हर विलास को पूरे लालित्यमय उद्वेग के साथ पत्थरों में अनावृत्त कर दिया है। खजुराहो के मिथुन शिल्प सब कुछ अनावृत्त कर देने की बार–बार होने वाली आवृत्तियाँ हैं। वे देह के अंग–अंग के उत्सव, रूप की मांसलता को आत्मसात् कर लेने की मानवीय आकांक्षा के उत्कृष्टतम शिल्पांकन और आसक्ति की परिपूर्णता के वे परमानन्द शिखर हैं जिनके शीर्ष पर सिर्फ रस प्रतिष्ठित हो सृजन के महाभाव का यह आह्वान कर रहा है कि रचो, बार–बार रचो क्योंकि रचने की लालसा ही सृष्टि के प्राण हैं।

रमणीय कोई इसलिए है क्योंकि कहीं रमण विद्यमान है, कमनीय कोई इसलिए है क्योंकि कहीं कामना स्थित है और दर्शनीय कोई इसलिए है क्योंकि कहीं दर्शन की अस्मिता अपने आख्यायित होने की बाट जोहती है। खजुराहो, रमण, कामना और दर्शन की त्रिवेणी है।

खजुराहो की अप्सरा, सुरसुन्दरी इतनी सम्मोहक हैं कि उनके सौन्दर्य में, भंगिमाओं में यह सत्य उजागर हो जाता है कि सृष्टि के सर्जक की कल्पना यदि ठान ले तो पत्थर भी खनक सकते हैं, उनकी लोच किसी नट को भी विस्मित कर सकती है। खजुराहो की नवयौवना कहीं दर्पण में अपना रूप लावण्य निहार रही है, अंगड़ाई ले रही है, कहीं बंकिम देहयष्टि लिए एक हाथ से काँटा अपने पाँव से निकाल रही है, पाँवों में पायल बाँध रही है, लंबे केशों को गूंथकर जूड़ा बाँध रही हैं, बालों में कंघी कर रही है, अपना दाहिना हाथ अलस भाव से पीछे लेकर बाएँ हाथ से स्तन सँभालती, त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी है। अपने परिधानों के ढीले नीवीबन्ध खोल रही है। मंदिरों के मण्डप में, उनके प्रदक्षिणा मार्ग पर वह भगवान को अर्पित करने कलश, पुष्प और अलंकरण ले जा रही है। कोई नृत्यरत है तो किसी के अधरों पर वीणा या बाँसुरी, कोई अभी–अभी स्नान कर निकली है तो कोई अपने बालों में समाए पानी को निकालने के लिए प्रयत्नरत है, कोई बड़ी तन्मयता से अपनी आँखों में काजल आँज रही है तो कोई पाँव को महावर से रंग रही है। वह लजाती है, अपने प्रेमी के स्पर्श से अपने हाथ अपने चेहरे पर रख लेती है या उसकी ओर से मुँह मोड़ लेती है। गेंदों से खेलती है, सामूहिक संगीत में वह शामिल है, पुरुषों के साथ नृत्य में सम्मिलित है। उसकी अनूठी भंगिमा है, पैरों में घुँघरू बाँधने की, जब वह नृत्य करने को तत्पर होती है। कहीं वह पत्र पढ़ रही है, पत्र लिख रही है, बगल में मृगचर्म और हाथ में पुस्तक लिए अपनी धुन में चली जा रही है, कहीं वह चित्र बना रही है तो कहीं शंख फूँक रही है। कहीं वह अपनी पतली कमर पर अपने

शिशु को बिठा लेती है और दोनों हथेलियों को जोड़ नमस्कार की मुद्रा धारण करती है। उसका सब कुछ अलंकृत भी है और अनावृत भी। इन्हें उत्कीर्ण करते समय शिल्पी शृंगार की तमाम मर्यादाओं में बँधा होकर भी उनका उल्लंधन करता दिखाई पड़ता है। सौन्दर्य की सुघड़ता के साथ, उसकी सुदर्शनता के साथ उसके मुख पर विराजा हुआ अपरिमित उल्लास उसके लावण्य को अद्‌भुत कान्ति से पूर्ण कर देता है। उसकी देह का हर उभार, हर मरोड़, हर बल, हर बार देखने पर, आँखों के द्वार से शरीर के अंग–अंग में एक विलक्षण लय का संचार करता है। उसकी देह की लय, हमारे मानस में जाने कितने राग, कितनी रागनियों और कितने रागपुत्रों को जन्म दे देती है।

खजुराहो की नायिका की देह जगमग से, मन का सारा तिमिर जाने कहाँ तिरोहित हो जाता है। याद आने लगते हैं बिहारी :

अंग अंग नग जगमगै दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै, बड़ो उजारो गेह।।

खजुराहो की नायिका अप्रतिम है। वह पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क की नायिकाओं से कहीं अधिक प्रगल्भ, मोहक और जीवन्त है। कनिंघम ने सन् 1864 में खजुराहो के मंदिरों में कुल 872 शिल्पों की गिनती की थी जिनमें से 646 मंदिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण थे। इन शिल्पों का दसवाँ हिस्सा ही मिथुन शिल्पों का हिस्सा है। शेष शिल्पों में सारे मानवीय व्यापार हैं। वहाँ संगीतज्ञ हैं, वादक हैं,शिक़ार, मनुष्य तथा पशुओं के बीच युद्ध, नाटक, कई तरह के खेल, युद्ध दृश्य, युद्ध संगीत, शिविर में बिताया जाने वाला जीवन, अस्त्र–शस्त्र, और धातुशिल्प हैं। वहाँ दर्जी, बुनकर, शिल्पी, रस्सी बुनने वाले, चर्मकार, धोबी, नाई, घरेलू नौकर, मज़दूर, नर्तक और शासकीय सेवक भी हैं। वहाँ सौन्दर्य प्रसाधन, तेल और मदिरा, कृषि और शल्य–चिकित्सा भी है। तरह–तरह के बर्तन, उपस्कर, छाते, प्याले, दर्पण, कंघे, आभूषण, पंखे और हथौड़े शिल्पित हैं। वहाँ धार्मिक सहिष्णुता बिखरी पड़ी है, विष्णु और उनके अवतार, कृष्ण लीला, शिव अर्चना, जैन और बौद्ध मतावलंबियों की पूजा विधियां भी हैं। वहाँ लक्ष्मीनारायण हैं, रेवती– बलराम हैं, रति–काम हैं और राम–सीता तथा हनुमान भी हैं।

खजुराहो को जानने के लिए ज़रूरी है उसके निर्माताओं के बारे मे जानना, उसके अतीत में झाँकना, उन कड़ियों को जोड़ना जो परम्परा के विशाल कालखण्डों में बिखरी हैं, फिर जानना उन अवधारणाओं को जो खजुराहो के इन चर्चित शिल्पों के संबंध में विभिन्न मनीषियों ने स्थापित की हैं और आखिर में इस प्रश्न का उत्तर खोजने की कोशिश करना कि ये शिल्प क्यों और क्या हैं ? यह क़वायद निरर्थक नहीं होगी क्योंकि इसकी परिणति होगी, ऐसी सार्थक कोशिश, जो होगी तो रूढ़, परम्परागत लेकिन जो एक बार फिर उन महान और अनाम शिल्पियों के निष्काम, काम को नमन करेगी।

खजूर के वृक्षों की बहुतायत के कारण इस नगर का नाम खजुराहो पड़ा। इसका मूल नाम खर्जूर वाहक था। स्व. अम्बिकाप्रसाद दिव्य का मानना है कि सही शब्द खजराहो है।

चूंकि बुंदेली में ज़्यादातर ओकारान्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है इसलिए इसे खजुराहो कहा जाने लगा। कनिंघम ने एक शिलालेख पढ़कर इसका मूल नाम खजुरवाटिका माना। अलबरूनी (ई. सन् 1031) तथा हुयूएनत्सांग (ई. सन् 641) ने खजुराहा कहते हुए इसे जाहुति राज्य (जुझौती) की राजधानी माना। इब्नबतूता सन् 1335 में यहाँ आया था वह इसे खजूरा कहता है। वर्तमान में प्रचलित नाम खजुराहो ही है। यह भी कहा जाता है कि खजुराहो के बाहर सोने के दो खजूर वृक्ष बनवाए गए थे। ईसा से 400 वर्ष पूर्व इसे वत्सा कहा जाता था, मध्ययुग में जैजाक भुक्ति या जैजाभुक्ति और चौदहवीं शताब्दी के बाद बुन्देलखण्ड। खजुराहो के पुराने मंदिरों के अवशेष लगभग 21 वर्ग किलोमीटर में खजुराहो गाँव के आसपास फैले हुए हैं। मान्यता है कि वहाँ कुल 85 मंदिरों का निर्माण हुआ होगा जिनमें से 25 अभी भी सुरक्षित हैं। नागर शैली के ये मंदिर भारतीय शिल्प–कला के प्रतिनिधि उदाहरण हैं। इनमें मानव जीवन के सहज व्यापारों को पूरे निष्णात कौशल के साथ उत्कीर्ण किया गया है। एक लम्बे अर्से तक खजुराहो अज्ञात ही रहा। गहन और बीहड़ वनों के बीच बसे इस गाँव और मंदिरों की खोज सन् 1838 में ब्रिटिश इंजीनियर कैप्टन टी.एस. बर्ट ने की। उसे, उसकी पालकी ढोने वाले ने इनके बारे में बताया था। इसके पूर्व सन् 1818 में जब सर्वेक्षण किया गया था तब इन मंदिरों को ध्वस्त मान लिया गया था। वर्तमान में छतरपुर के निकट मध्य भारत में बसा यह गाँव पूरे विश्व के कलानयनों का केन्द्र है। नर्मदा और चम्बल की धाराओं तथा विन्ध्य की उपत्यकाओं से घिरा यह क्षेत्र उत्तर और दक्षिण की सीमारेखा भी है। इससे 20 किलोमीटर की दूरी पर विन्ध्य से निकली केन नदी है जो यमुना में मिलती है। कैमूर की खदानों से, जो पन्ना के आसपास स्थित हैं, खजुराहो के शिल्प में लगने वाला बलुआ पत्थर निकाला गया। वर्तमान में खजुराहो में तीन तालाब हैं, इनमें प्रमुख शिवसागर है।

खजुराहो का शिल्प–वैभव उन चंदेल शासकों की देन है जिन्होंने नौवीं से चौदहवीं शताब्दी तक यहाँ राज्य किया। वे अपने आपको चंद्रमा का वंशज मानते थे। कहा जाता है कि कर्णवती (केन) और चंद्रमा के सम्मिलन से चन्द्रात्रेय (चन्देल) वंश की उत्पत्ति हुई। चंदबरदाई के पृथ्वीराज रासो (1177 से 1192) में यह उल्लेख है कि एक ब्राह्मण पुरोहित की कन्या हेमावती जो काशी के रति तालाब में स्नान कर रही थी, उस पर चंद्रमा मोहित हो उठा तथा उससे संसर्ग के पश्चात् यह निर्देश दिया कि वह खजुराहो में जाकर रहे जहाँ उसे जहाँ उसे एक प्रतापी पुत्र होगा। हेमावती खजुराहो आई, यहाँ उसने एक प्रतापी पुत्र को जन्म दिया, नाम रखा चन्द्रबर्मन। वह इस वंश का पहला शासक था। वह इतना शक्तिशाली था कि निहत्थे ही सिंह को मार सकता था। यह दृश्य चन्देलों का प्रतीक चिन्ह बना। यह खजुराहो में शिल्पित है। इसी तरह की एक और कथा प्रचलित है जिसके अनुसार कालंजर के पुजारी मनीराम से कालगणना में त्रुटि हो गई और उसने अमावस्या के स्थान पर निश्चित तिथि को पूर्ण चन्द्रोदय बतला दिया। यह त्रुटि जब उसकी पुत्री को ज्ञात हुई तो उसने अमावस्या की रात को चंद्रमा से प्रार्थना की, कि वे उदित हो जाएँ। चंद्रमा उदित तो हुए लेकिन बदले में उन्होंने हेमावती से संसर्ग किया। हेमावती के पिता मनीराम पश्चात्ताप के कारण मनुष्य से पाषाण में परिवर्तित हो गए।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि चन्देल, गोंड लोगों के वंशज थे। गोंड महोबा के शासक थे। आरम्भिक चन्देल शासक प्रतिहारों के सामन्त थे जिन्होंने हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के पतन के बाद मध्य भारत पर शासन किया। चन्देलों पर कलचुरियों, वाक्पतियों और प्रतिहारों का प्रभाव था जो उनके कला–कौशल पर परिलक्षित होता है।

खजुराहो के मंदिरों के निर्माण की परम्परा हर्षदेव (900–925) के समय से होती है, यों यदि जैन मंदिरों के पुनरुद्धार से यह परम्परा जोड़ी जाए तो यह छठवीं–सातवीं शताब्दी से जुड़ती है। हर्षदेव के समय में चौंसठ योगिनी मंदिर तथा लालगाँव महादेव के मंदिर निर्मित हुए हर्षदेव का उत्तराधिकारी यशोवर्मन था (925 से 950)। वह शक्तिशाली शासक था। उसने 940 ई. में कालंजर का दुर्ग राष्ट्रकूटों से जीता। खजुराहों में मिले शिलालेख के अनुसार यशोवर्मन ने एक विष्णु मंदिर का निर्माण किया, यह मंदिर अब लक्ष्मण मंदिर के नाम से जाना जाता है। यशोवर्मन के पुत्र धंग (950–1002) का शासन सर्वाधिक उल्लेखनीय है। यह शक्तिशाली शासक एक महान योद्धा होने के साथ–साथ विलक्षण कलाप्रेमी था। उसके समय में विश्वनाथ तथा पार्श्वनाथ मंदिर बनाए गए एक शिलालेख जो 954 ई. का है, खजुराहो में मिला है जिसमें धंग की मृत्यु का वर्णन है, उसकी आयु सौ वर्ष दर्शाई गई है। धंग का पुत्र गण्ड था (1002 से 1017)। उसके काल में वैष्णव तथा सूर्य मंदिर बने जिन्हें वर्तमान में जगदंबी तथा चित्रगुप्त मंदिर कहा जाता है। गंड का पुत्र विद्याधर (1017 से 1026) अपने समय का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक था। उसी के समय 102 फीट ऊँचा कंदरिया महादेव का मंदिर बनाया गया जो खजुराहो की मंदिर सरणी का केन्द्र है। विद्याधर की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी दुर्ग निर्माण की ओर प्रवृत्त हुए तथा शनैः–शनैः खजुराहो का महत्त्व कम होता गया। विद्याधर के समय में ही महमूद ग़ज़नवी का आक्रमण हुआ किन्तु विद्याधर ने उसकी संप्रभुता स्वीकार कर ली और बहुत ज़्यादा नुकसान इन मंदिरों को नहीं पहुँच पाया। बाद में 1202 में कुतुबुद्दीन एबक ने भी कालंजर पर हमला किया। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक खजुराहो विस्मृति के कुहासे में खो गया और उसका पुनरुद्धार 1838 में कैप्टन बर्ट के हाथों हुआ। उसके बाद खजुराहो शिल्प के अध्ययन का एक सिलसिला शुरू हुआ, कनिंघम, हैवेल, फर्ग्युसन, स्मिथ, स्टैला क्रेमरिश और पर्सी ब्राउन जैसे पश्चिम के अध्येयताओं ने और तमाम शीर्षस्थ भारतीय पुरातत्त्वविदों, इतिहासकारों, चिन्तकों और कलाकारों ने खजुराहो को देखा और उसे अपनी–अपनी अवधारणाओं में ढाल दिया।

खजुराहो के मूर्ति–शिल्प को प्रमुखतः पाँच भागों में विद्वानों ने विभक्त किया है। पहली श्रेणी में देवी–देवताओं की मूर्तियाँ जिनमें मुख्य मूर्ति मंदिर के गर्भगृह में है, शेष मंदिर के बाहर की दीवारों पर उत्कीर्ण हैं, इनमें दिक्पाल हैं, विद्याधर, गंधर्व, कुमार तथा गण हैं। दूसरी श्रेणी में उत्कीर्णित श्रृंखलाएँ हैं जिनमें अनुष्ठान, युद्ध, शिकार, दरबारी जीवन, जुलूस, समारोह व रोज़मर्रा का जीवन है। तीसरे समूह में पशु हैं जैसे हाथी, घोड़े, बंदर, तोते, ऊँट तथा सिंह को अपने वश में करता योद्धा। कई मिथकीय प्राणी जैसे शार्दूल तथा दो पशुओं के मेल से बना पशु जैसे घोड़ा व सिंह, हाथी, सूअर, ऊँट तथा तोता के मेल से बने अन्य मिथिकीय

पशु। चौथी श्रेणी में फूल हैं, वनस्पतियाँ हैं, निसर्ग के उपादान हैं तथा पाँचवें समूह में प्रणयरत युगल, अप्सरा तथा नायिकाएँ अपनी विविध मुद्राओं और भंगिमाओं में सौन्दर्य की पराकाष्ठा को समेटे मौजूद हैं।

यदि मिथुन–शिल्पों के संबंध में विहंगावलोकन किया जाए तो ज्ञात होगा कि भारत में ऐसे शिल्प पिछले 2000 वर्षो से उत्कीर्ण किए जाते रहे हैं। इसका एक प्रमुख कारण मातृशक्ति की विभिन्न रूपों में उपासना थी। उत्तर भारत में विशेष रूप से ईसा की पहली सात शताब्दियों तक यह पूजा बहुत हुई। इनके अपने–अपने सम्प्रदाय भी विकसित हुए यह प्रमाण भी मिलते हैं कि इस काल में नग्न मातृकाओं की पूजा–पद्धति प्रचलित थी। हड़प्पा में मिली एक सील के नग्न अंकनों की विस्तृत व्याख्या मार्शल ने की है। भीटा की खुदाई में मिला टेराकोटा शिल्प, मथुरा में मिले मिथुन–शिल्प, आलमपुर संग्रहालय में रखी नग्न मातृका की मूर्ति, तेर की खुदाई में मिले दो नग्न मातृकाशिल्प, नागार्जुनकोण्डा, नवासा तथा वादगाँव के नग्न शिल्प, पटना संग्रहालय में रखा टेराकोटा शिल्प, माहुरझारी का पाषाण शिल्प तथा नागपुर संग्रहालय में रखे दो नग्न मातृकाशिल्प इसके प्रमाण हैं। शुंगकाल (पहली–दूसरी शताब्दी) से ही यौन क्रीड़ा में रत मिथुन–शिल्प मिलते हैं। इसके बाद अमरावती और मथुरा की शैलियों में भी ये शिल्प मिलते हैं।

यक्षी, गंगा, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती और तारा को पूरे मानवीय सौन्दर्य के साथ उत्कीर्ण किया गया है। लखनऊ संग्रहालय में दूसरी–तीसरी शताब्दी का एक जैन तोरण है जिसमें एक युगल को प्रेम–भंगिमा में दर्शाया गया है। इसी तरह दूसरी तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व का बोधगया से प्राप्त एक युगल शिल्प है। इस काल के महत्त्वपूर्ण शिल्पों में से एक है दीदारगंज की चंवरधारणी या यक्षी, जिसका शिल्प सौष्ठव अप्रतिम है। मौर्यकालीन यह शिल्प वर्तमान में पटना संग्रहालय में रखा गया। कारला के बौद्ध चैत्यगृह जो पहली–दूसरी शताब्दी ईसापूर्व के हैं, उनमें प्रगल्भ युगल हैं। ईसा की आरंभिक सदियों में मथुरा तथा उत्तर पश्चिम में दो अलग–अलग शैलियाँ पनपीं। गांधार शैली में ऐसे कई शिल्प हैं। चौथी से छठवीं शताब्दी के बीच ऐसे अनेकों मिथुन–शिल्प निर्मित हुए गुप्तकाल के झाँसी जिले में बने देवगढ़ में एक दर्जन से अधिक ऐसे शिल्प हैं। बुन्देलखण्ड के नाचना मंदिर में ऐसे युगल हैं। प्रो. के.डी. वाजपेयी के अनुसार मध्यकाल में शैव, शाक्त, मतों का पल्लवन विंध्यक्षेत्र तथा दक्षिण कोसल के अनेक भागों में विशेषरूप से हुआ। चन्देलों, कलचुरियों, परमारों के काल में शिव के विशाल मंदिर बने, गुर्गी, उदयपुर, विदिशा, चंद्रेह, जांजगीर, सोहागपुर, रतनपुर और सिंहपुर में मंदिर बने। दक्षिण भारत में भी बदामी में काम और रति का शिल्प है। एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मंदिर में (750–850 ई.) आलिंगन करते व चुंबन–रत युगल हैं। उसकी दीवारों पर मिथुन–शिल्प भी हैं। नवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच उत्तर भारत में खूब मंदिर निर्मित हुए मध्य भारत, गुजरात और राजस्थान इनके केन्द्र थे। राजस्थान के बारोली में, खानदेश के बल्साने, बवेरा और सिन्नर में कश्मीर के अवन्तेश्वर मंदिर में इस काल में ऐसे शिल्प उत्कीर्ण

हुए इस परम्परा की निरन्तरता भंग नहीं हुई। मैसूर, कांचीपुरम्, श्रीरंगम् और बैल्लोर के मंदिरों में ये शिल्प निरन्तर उत्कीर्ण होते रहे।

खजुराहो के वे नारी–शिल्प जो उनकी लयात्मक देहयष्टि, अद्‌भुत लावण्य और भावप्रवण भंगिमाओं के कारण विश्व–विख्यात हैं उनका उत्स कहीं मोहनजोदड़ो की उस नृत्यरत लड़की में मिलता है जिसके सौष्ठव का विकास कालान्तर में भरहुत, साँची और मथुरा की यक्षियों, शालभंजिकाओं से लेकर मध्ययुग की अप्सराओं, नायिकाओं और सुर सुन्दरियों में हुआ। मथुरा का शिल्प यद्यपि इतना अनावृत्त नहीं है लेकिन कोणार्क, पुरी और भुवनेश्वर की नवयौवनाएँ इससे कहीं आगे हैं और इनका चरम उत्कर्ष खजुराहो की नायिका, अप्सरा शालभंजिका और सुरसुन्दरी में है।

शिल्पांकन की परम्परा का यदि विहंगावलोकन किया जाए तो ज्ञात होगा कि ईसा के 2000 वर्ष पूर्व से मातृकाओं के शिल्पांकन की परम्परा शुरू हुई और उसके बाद भारत के हर हिस्से में, हर कालखण्ड में सुन्दर नारी–शिल्प एकल तथा युगल, रतिक्रीड़ाएँ और काम के विभिन्न आयामों को केन्द्र में रखकर मंदिरों में शिल्पांकन हुए पहली सदी के शुंग जिनके काल में साँची के भव्य स्तूप स्तूप निर्मित से लेकर, दूसरी शती के अमरावती शिल्प के सातवाहन, दूसरी और तीसरी सदी के इक्ष्वाकु, कुषाण जिनके समय में मथुरा की कला फली–फूली, कारला, भज और कान्हेरी के इसी काल के शिल्प, तीसरी से छठी शताब्दी के बीच के महान गुप्त शासक जिनके समय में बुद्ध और ब्राह्मण शिल्प पल्लवित हुआ, इसी काल के वाकाटक, दूसरी से छठवीं सदी के बीच के गांधार, छठवीं से आठवीं सदी के मध्य के पश्चिमी चालुक्य जिनके काल में एहोल, बदामी और पट्टादकल के शिल्प उत्कीर्ण हुए, इसी अवधि के पल्लव व पांड्य जिनके समय में महाबलीपुरम के भव्य शिल्प जन्मे, छठवीं से आठवीं सदी के बीच राष्ट्रकूटों के समय में उत्कीर्ण एलोरा, फिर पाल–सेन, चोल, सलसतरम्भा, गंग, होयसल, प्रतिहार, परमार, सोलंकी, चन्देल और कलचुरी शासक जिनके अपने–अपने समय में शिल्प और स्थापत्य के प्रतिमान निर्मित हुए, फिर वे चाहे मुक्तेश्वर, लिंगराज, राजरानी, कोणार्क, मोढेरा, शत्रुंजय, दिलवाड़ा, रणकपुर या विठ्‌ठल के मंदिर हों या हों हेलीविद और हम्पी के विस्मित कर देने वाले शिल्पित पाषाणी अवशेष।

जैसा कि पूर्व में भी उल्लेख किया गया नारी अंकन और मिथुन–शिल्प बहुतायत से हर काल में मिले हैं और वे खजुराहो के अंकनों के पूर्व के हैं। बड़ौदा से एक ऐसा 10वीं सदी का शिल्प मिला है जिसमें हाथी को स्त्री के साथ मिथुनरत दर्शाया गया है। हाथी मानसून के बादलों के प्रतीक के रूप में है और स्त्री धरती के रूप में। दोनों ही अपनी–अपनी परितृप्ति के लिए आकुल हैं। न केवल पत्थर बल्कि हाथी दाँत पर भी मिथुन–शिल्पों को उकेरने की परम्परा रही है। एक इसी तरह का हाथीदाँत पर मिथुनरत युगल, बेगरम अफ़गानिस्तान में मिला है जो भारत में निर्मित हुआ। उड़ीसा में ऐसे शिल्प बहुत मिले हैं। दक्षिण भारत में भी 8वीं और 18वीं सदी के ऐसे मिथुन–शिल्प प्राप्त हुए हैं। कांस्य तथा काष्ठशिल्प भी उपलब्ध हैं जिनके विषय नारी सौन्दर्य और मिथुन हैं।

इस संक्षिप्त बानगी से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक कालखण्ड में भारतीय शिल्पी की छेनी नारी सौन्दर्य और काम की भंगिमाओं को निरन्तर उत्कीर्ण करती रही है। इन सब शिल्पांकनों के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है, पुराविदों, इतिहासकारों और संस्कृतिविदों के द्वारा लेकिन ऐसे प्रयास नहीं के बराबर हुए जिनसे इन शिल्प की कड़ियों को उस समय के सामाजिक चिन्तन, परम्परा और अन्य अनुशासनों के परिप्रेक्ष्य में जोड़कर देखा जाता और इस तथ्य की तह तक पहुँचने का यत्न होता कि यक्षी, अप्सरा, सुरसुन्दरी, देवी और शालभंजिका यदि इतने मनोरम रूप में, अपने गतिमय व्यापार के साथ उत्कीर्ण की गईं, नृत्य और मिथुन से लेकर पूजा–विधान तक बड़े जीवन्त रूप में उकेरे गए तो क्या ये केवल उनका निर्माण कराने वाले शासकों तथा निर्माण करने वाले समृद्ध और सुखी शिल्पियों के विलास की अभिव्यक्ति थे या यह शिल्पी की बाध्यता थी ? बाध्यता इस अर्थ में कि जिस समाज में वह रहता था, जिस जीवन को जीता था, जिस उपासना में तल्लीन रहता था क्या यह उसके लिए संभव था कि वह अपने समकालीन सच और उससे जुड़ी मान्यताओं को अभिव्यक्ति न दे और कल्पना के विलास में लीन रहकर वह सब अभिव्यक्त करे जो उस समय का सच नहीं है। यदि इन शिल्पों की व्यंजना में जाएँ तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब उत्कीर्ण करना अपने समय के उस शिल्पी के लिए एक बाध्यता थी क्योंकि वह ईमानदार था, निस्पृह था और यशाकांक्षी नहीं था। ग्यारसपुर की शालभंजिका या नागार्जुनकोण्डा की उन्मुक्त नायिका उसने जिस तन्मयता के साथ उत्कीर्ण कीं, वही तन्मय साधना उमा–महेश्वर, विष्णु–लक्ष्मी और बुद्ध की करुणा से भरपूर आँखों को उकेरने के मूल में रही। ये शिल्पी वास्तव में ऐसे अनाम साधक थे जो बिना किसी कामना के अपनी अनमोल धरोहर अपनी आगामी पीढ़ियों को सौंपते रहे। वे जन्मते रहे, रचते रहे, मोक्ष शायद उन्होंने नहीं पाया इसलिए उनका जन्म इस देश में थमा नहीं, उन्हीं के कारण रचाव नहीं थमा, सृजन नहीं विराम ले पाया, रंग सूख नहीं पाए, छेनी और तूलिका के पाँवों में बसी गति भारतीय इतिहास के हर कालखण्ड के कलात्मक परिवेश को अक्षय सौरभ से महकाती रही। इन उजास पुरुषों ने अपने गेह को उजाले से भरपूर रखा, यही उजास इनका सच्चा मोक्ष थी।

इस शिल्प–वैभव की विरासत खजुराहो के शिल्पी को मिली। उन्हें विरासत उस बादरायण के ब्रह्मसूत्र और वात्स्यायन के कामसूत्र की मिली, कौटिल्य के अर्थशास्त्र की मिली जिन्होंने ईसा की आरंभिक सदियों में इस देश की जीवन पद्धति और शैली को ढाला। इस ढालने में कहीं परस्पर विरोध नहीं था। ब्रह्मसूत्र और कामसूत्र दोनों ही जीवन के अनिवार्य अंग थे इसलिए उनमें एक–दूसरे के प्रति निषेध नहीं था। इसी मनोभूमि पर काम और पवित्र शिवत्व एकात्म हुआ। वृहत्संहिता का यह श्लोक बड़ा विचारणीय है जिसका अर्थ है कि ऐसी संपूर्ण सृष्टि जिसमें ब्रह्म से लेकर छोटे–से–छोटा जीवाणु भी समाया है वह पुरुष तथा स्त्री के मिलन का परिणाम है। तब हम लज्जित क्यों हों ? जबकि भगवान शिव को सौन्दर्यदर्शन की तृप्ति के लिए, किसी नवयौवना की सुन्दरता को भरपूर निहारने के लिए चार मुख धारण करने पड़े। यह श्लोक निम्नानुसार है :

आब्रह्मकीटान्तमिदं निबद्धं पुंस्त्री प्रयोगेण जगत् समस्तम्।
व्रीडात्र का यत्र चतुर्मुखत्वमीशोऽपि लोभाद्गमितो युवत्याः।।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को हिन्दू दर्शन में सर्वोपरि माना गया। बल्कि मोक्ष प्राप्ति के पूर्व का अंतिम सोपान काम ही है। हमारे वाङ्मय की परम्परा में अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र पर अनेकों ग्रन्थों की रचना हुई।

इसी प्रकार कामशास्त्र पर भी अनेकों ग्रन्थ रचे गए काम की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गई। कहा जाता है कि प्रजापति ने एक लाख अध्यायों में धर्म, अर्थ और काम के संबंध में रचना की। धर्म और अर्थ से संबंधित अंश बाद में मनु तथा बृहस्पति के द्वारा संक्षिप्त किए गए तथा काम से संबंधित अध्यायों का संक्षिप्तीकरण 500 अध्यायों में श्वेतकेतु ने किया। इनके संक्षिप्तीकरण की परम्परा का नैरन्तर्य कायम रहा जिसकी परिणति वात्स्यायन के कामसूत्र में हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से कामसूत्र ही प्राचीनतम ग्रन्थ काम की भारतीय धारणा के संबंध में है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को 7 अधिकरण और 64 प्रकरणों में विभाजित किया। इसमें काम के संपूर्ण स्वरूप को लिपिबद्ध किया। इस ग्रन्थ के आधार पर काव्य रचे गए, नाटक सृजित हुए, पाषाणों में शिल्प ढले तथा तूलिका से चित्र रूपायित हुए कामसूत्र चौथी सदी के आसपास की रचना है लेकिन इसे केन्द्र में रखकर रचे जाने वाले ग्रन्थों का काल लगभग 600 वर्षों के बाद का है। राजा जयपीड़ के मंत्री दामोदर ने कुट्टनीमत नामक ग्रन्थ कश्मीर में लिखा, फिर तेरहवीं सदी के आसपास कोका पंडित ने रति–रहस्य की रचना की। कल्याणमल ने अनंगराग नामक ग्रन्थ लिखा जिसका उर्दू, फारसी और अरबी में अनुवाद हुआ। पद्मश्री के नगर सर्वस्य, केरीशेखर की पंचाशिका, महाराजा देवराज की रतिरत्न प्रदीपिका तथा एक अज्ञात, जयदेव नामक कवि की रतिमंजरी जैसे ग्रन्थ बाद की रचनाएँ हैं। यों सोमप्रभा ने श्रृंगार वैराग्य 1276 में रचा जो इन ग्रन्थों से पूर्व का है।

यदि आरम्भ से विचार करें तो ऋग्वेद में यम और यमी के प्रेम–संसर्ग का उल्लेख है। बौद्ध धर्म के दीर्घ निकाय में एक गंधर्व का सांकेतिक उल्लेख है। महाभारत ऐसे प्रसंगों और चरित्रों से भरपूर है। पाण्डव, कुन्ती, कर्ण, सत्यवती और द्रौपदी जैसे चरित्र हैं। वहाँ नियोग प्रथा का उल्लेख है। कालिदास अपने सौन्दर्य वर्णन के लिए विश्वविख्यात हैं। मेघदूतम् हो, शाकुन्तलम् हो या मालविकाग्निमित्र, इनमें सर्वत्र सौन्दर्य और स्त्री–पुरुष के मिलन का बिम्बात्मक उल्लेख है। खजुराहो की नायिका मालविका की तरह ही प्रतीत होती है। मालविका की नृत्य करने के उपरान्त की वह मुद्रा खजुराहो की नायिका में दर्शनीय है जहाँ वह नितम्ब पर बायाँ हाथ रखकर खड़ी है :

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्तहस्तां नितंबे
कृत्वा श्यामा विटपिसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठेलुठित कुसमे कुट्टिमे पातिता
नृत्तादस्याः स्थित मतितरां कान्त मृज्वायतार्थम्।।

किंवदन्ती है कि कुमारसंभव के अंतिम सर्ग में शिव–पार्वती की रति–क्रीड़ा काउन्मुक्त चित्रण करने के कारण कालिदास को शिव का कोपभाजन होना पड़ा था। कालिदास के अलावा माघ, भवभूति, श्रीहर्ष, भारवि, मंखा, बिल्हण, वाकापति, हेमचंद्र और बाणभट्ट के काव्यों में भी काम के उन्मुक्त उल्लेख हैं। हाल की गाथा सप्तशती, अमरूक् के अमरूकशतक, भर्तृहरि के शृंगार शतक और हर्षवर्द्धन के राजकवि मौर्यभट्ट के शृंगार अष्टक में ऐसे अनेकों उल्लेख हैं। प्रेम की पराकाष्ठा और एकात्म हो जाने के भाव को उच्चतम शीर्ष पर स्थापित किया जयदेव ने जिन्होंने बारहवीं शताब्दी में गीतगोविन्द रचा। राधा–माधव के प्रणये का यह महानतम काव्य निस्संदेह परवर्ती काल में विकसित होने वाली समस्त कला विधाओं का आधार ग्रन्थ बना। इस अलौकिक काव्य की तर्ज पर बाद में अनेकों ग्रन्थ रचे गए इनमें उल्लेखनीय लक्ष्मण आचार्य का चण्डी कुचपंचाशिका है।

यह संक्षिप्त उल्लेख है उस वाङ्मय परम्परा का जिसमें प्रेम और उसके व्यापार को मानवीय जीवन के एक अनिवार्य व्यवहार के रूप में शब्द दिये गए।

खजुराहो के अंकनों के बारे में विचार करते समय शिल्प और वाङ्मय की परम्परा और उसकी निरन्तरता को ध्यान में रखा जाना नितान्त आवश्यक है। यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि चित्रकला में, विशेषरूप से मध्यकाल में चित्रित लघुचित्रों में खजुराहो क्यों नहीं है ? यह एक ऐतिहासिक सच है कि ऋग्वेद से लेकर ऐतरेय, वृहदारण्यक और छांदोग्य, कठोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् में चित्रकला का आख्यान है। पंचदशी के चित्र दीप प्रकरण से लेकर विष्णुधर्मोत्तर पुराण तक चित्रकला के संबंध में गंभीर विवेचन है, रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र और नाट्यशास्त्र में भी इस कला के बारे में उल्लेख और व्याख्याएँ हैं। फिर कालिदास के काव्य से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि चित्रकला की समृद्ध परम्परा इस देश में मौजूद थी। कामसूत्र, वृहत्संहिता, मत्स्य, गरुड़, अग्नि, पद्म, हरिवंश और स्कंद पुराण, बाणभट्ट की कादम्बरी और हर्षचरित, दामोदर गुप्त के कुट्टनीमत, धनपाल की तिलकमंजरी, सोमदेव के कथासरित्सागर, मम्मट के काव्यप्रकाश और श्रीहर्ष के नैषधचरित तथा सोमेश्वर भूपति के मानसोल्लास और भोज के समरांगणसूत्राधार तक चित्रकला के बारे में विस्तृत उल्लेख और विधान वर्णित हैं। इनके अलावा, 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' जैसे श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ तथा जिन भद्र मुनिकृत 'कल्प सूत्र' की टीका में चित्रकला का विशद वर्णन है। मागधी प्राकृत की 'सुर सुन्दरी कहा' तथा प्राकृत की 'तरंगवती' के अलावा बौद्धों के पिटकों और जातकों में चित्रकला का उल्लेख है। विशेष रूप से श्याम जातक, छन्द जातक, दीपक जातक, वसन्तरजातक, सिविजातक, ऋष्यशृंगजातक और दिव्यादान के आधार पर गांधार शैली की कलात्मक मूर्तियाँ गढ़ी गईं।

इस तरह यह सुनिश्चित हो जाता है कि भारत में चित्रांकन की परम्परा उतनी ही प्राचीन थी जितनी कि शिल्प की लेकिन अजंता के भित्तिचित्रों के बाद एक लम्बा अन्तराल है। काव्यों और नाटकों में उल्लेख है, विवेचन है लेकिन चित्र नहीं मिलते। इसका बड़ा कारण वह ऐतिहासिक सच है जिसके कारण चित्र नष्ट हो गए। इस्लाम में चित्रकला को निषिद्ध ठहराया

गया इसलिए जब मुस्लिम आक्रमणकारी इस देश में आए तो उन्होंने इस परम्परा के विकास पर तो विराम लगाया ही, साथ ही चित्रों की विरासत भी नष्ट कर दी।

यों सातवीं शताब्दी में चित्रांकन परम्परा का उल्लेख बौद्ध लामा तारानाथ ने किया है किंतु नौवीं सदी में एक समृद्ध पाल शैली का जन्म हुआ जिसके आश्रयदाता पालवंशीय शासक थे। इसके केन्द्र बंगाल, बिहार और नेपाल थे। इन चित्रों का निर्माण 10वीं से 13वीं सदी तक हुआ। इनके विषय बौद्ध थे। लगभग इसी काल में पश्चिमोत्तर गुजरात शैली का उद्भव हुआ। इस शैली में बालगोपाल स्तुति, गीत गोविन्द और दुर्गासप्तशती के साथ रतिरहस्य नामक एक ग्रन्थ भी चित्रित किया गया। काम पर आधारित एक ग्रन्थ 'वसन्तविलास' गुजरात में मिला जिसे 1451 ई. में चित्रित किया गया था। इसमें वन में वसन्त के अवतार तथा नर–नारियों के उद्दाम यौवन को चित्रित किया गया था। इसी काल में जैन शैली में भी चित्र बने। यह वर्तमान में फ्री आर्ट गैलरी वाशिंगटन में है। यह उल्लेख भी मिलता है कि जैन कलाकारों ने कामसूत्र पर आधारित चित्रों का निर्माण किया। जैन शैली, अपभ्रंश शैली, गुजरात और पाल शैलियाँ मुग़लों के आगमन के पूर्व की शैलियाँ हैं। सल्तनत काल में यद्यपि चित्र बने लेकिन वे चित्र सुल्तानों के द्वारा फूल, बेल–बूटों के रूप में बनाए गए मुगल शासक कलाप्रेमी थे। उनके समय में जिस मुगल कलम का उद्भव तथा विकास हुआ तथा जिसने पश्चात्यवर्ती राजपूत और पहाड़ी शैलियों के विकास में योगदान दिया वह क़लम विशेष रूप से अक़बर के काल में स्थापित हुई तथा जहाँगीर के काल में उसने अपने उत्कर्ष को छुआ। कामसूत्र पर आधारित मुग़ल कलम का पहला चित्र अकबर के समय में बना। यौन–संसर्ग के चित्र जहाँगीर के काल में 17वीं सदी में भी बने। मुगल क़लम में गीतगोविन्द भी रूपायित हुआ। दक़नी क़लम में भी रतिक्रीड़ा के चित्र बने। फिर बाद में बिलासपुर, पुंछ, काँगड़ा, गढ़वाल और चम्बा कलमों में भी रति–चित्र उकेरे गए। इसके साथ ही राजपूत कलमों में मारवाड़, बूँदी, जयपुर, कोटा, अलवर, सिरोही जैसी ख्यात शैलियों में भी रतिक्रीड़ा के चित्र बनाए गए। विशेष रूप से बूँदी और जयपुर क़लमों में ये चित्र बहुतायत से बने। मुग़ल और राजपूत कलम के सम्मिश्रण से भी ऐसे चित्र बने। टैगोर संग्रह में ये चित्र हैं। मालवा कलम जो अपने आपमें राजपूत शैलियों से प्रभावित होते हुए भी अपने आपमें एक स्वतंत्र कलम थी, अमरूक शतक चित्रित किया गया। इनके अलावा भी मालवा क़लम में भी इस प्रकार के चित्र बने। इस विषय पर बड़े विस्तार से उन विद्वानों ने विचार किया है जिन्होंने कामसूत्र, अनंगराग और रतिरहस्य पर कार्य लिया है। लेकिन तथ्य यह है कि खजुराहो के मूर्तिशिल्पों पर आधारित रूपायन नहीं हुए। यह अवश्य है कि खजुराहो के कामकेन्द्रित अंकनों में वात्स्यायन के कामसूत्र के आधार पर शिल्प बने हैं।

चित्रकला और विशेष रूप से मध्यकालीन लघुचित्रकला पर प्रभाव कामसूत्र का ही है तथा कलाकार ने यह स्वतंत्रता भी ली कि वह अपनी कल्पना के आधार पर कामसूत्र की शास्त्रीयता का उल्लंधन भी करता। कामसूत्र की कई टीकाएँ भी लिखी गईं जिनमें प्रमुख यशोधर, भास्कर, मालदेव और वीरभद्र की टीकाएँ हैं। कश्मीर के क्षेमेन्द्र ने कामसूत्र के सार के रूप में 'वात्स्यायन सूत्रधार' की रचना की। इसी तरह रतिरहस्य की चार टीकाएँ

काशीनाथ, रामचंद्र, प्रभु तथा हरिहर ने कीं। संभवतः ये टीकाएँ भी इन कलाकारों के चित्रांकन के मूल में रही हों।

भारतीय शिल्प–परम्परा और चित्रांकन की परम्परा के तुलनात्मक परिशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ एक ओर शिल्पियों ने अपनी विरासत को विकसित कर खजुराहो में पूर्णता दी वहीं दूसरी ओर चितेरों ने वाङ्मय को अपनी विरासत के रूप में स्वीकारा तथा उसे रूपायित किया फिर वह चाहे वाल्मीकि रामायण हो, गीतगोविन्द या बिहारी तथा केशव की रचनाएँ। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि खजुराहो के शिल्पी को एक समृद्ध उत्तराधिकार मिला था। उसके पास कौशल था, ज्ञान था, अन्तर्दृष्टि थी और वह बाध्यता थी जो किसी ईमानदार कलाकार की इकलौती निधि होती है।

खजुराहो के शिल्पांकन की पृष्ठभूमि में कलाकार की निष्ठा और इसके निर्माताओं का अखण्डित जीवन दृष्टि के प्रति अद्भुत समर्पण विद्यमान है। निष्ठा और समर्पण के इस सामंजस्य ने कई प्रकार की धारणाओं को जन्म दिया।

सबसे पहले जब इन मंदिरों को खोजा गया तथा इनका आरम्भिक अध्ययन आरम्भ हुआ तब कनिंघम जैसे विद्वानों ने इन कामशिल्पों को अश्लील माना। रायकृष्णदासजी भी इन्हें अश्लील ही मानते रहे। लेकिन बीसवीं सदी के आरम्भ से ही कला–मनीषियों ने इनकी गहरी व्याख्या की। यह कहा गया कि आँधी, तूफान, बिजली तथा बुरी नज़रों से बचने के लिए इन्हें बनाया गया। यह धारणा भी प्रचलित रही कि ईश्वर के प्रति आकृष्ट करने की दृष्टि से इन शिल्पों का निर्माण हुआ या बौद्ध तांत्रिक प्रभाव के कारण ये शिल्प बने। तंत्र के आधार पर ही यह भी माना गया कि कौल और कापालिकों के बीच प्रचलित धार्मिक अनुष्ठानों के ये प्रतीक हैं। कुछ विद्वानों ने माना कि ये दिगम्बर जैन साधुओं के क्रियाकलापों से संबद्ध हैं, यह भी माना गया कि यौन शिक्षा देने के उद्देश्य से इनका निर्माण हुआ। यह भी कि आत्मा और परमात्मा के मिलन के प्रतीक रूप में इन्हें शिल्पित किया गया। ऐसी अनेकों अवधारणाएँ हैं और ज्यों–ज्यों अधुनातन दृष्टि गहराई से इन शिल्पों को देखती है वह अपनी अलग व्याख्या कर देती है। खजुराहो के मिथुनशिल्पों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी हुआ और यह निष्कर्ष निकाला गया कि मिथुनरत युगल कहीं बाह्य और आन्तरिक रूप से एकात्म हो गए हैं। उनका यौन व्यवहार कहीं किसी दबाव की परिणति नहीं है।

खजुराहो के काम–शिल्पों को उकेरने के पीछे जो चेतना सक्रिय रही, उसकी वास्तविकता को जानना ज़रूरी है। इसलिए ज़रूरी है क्योंकि इस चेतना को अपने–अपने ढंग से व्याख्यायित करने के बहुत प्रयास हुए हैं। यह एक सार्वकालिक सत्य है कि पुरुष और स्त्री का संसर्ग नैसर्गिक आवश्यकता है। काम की उपस्थिति और उसकी सक्रियता के बिना सृष्टि की निरन्तरता का कायम रहना ही असंभव है। इसलिए इस काम की अनिवार्यता योनि और शिश्न पूजन के द्वारा ईसा से सदियों पूर्व से प्रतिपादित की जाती रही। सभ्यता के विकास के साथ–साथ ज्यों–ज्यों देह पर आवरण चढ़ते गए, काम के प्रति गोपन भाव बढ़ता गया। जब तक स्त्रीपुरुष अनावृत्त रहे, श्लील और अश्लील का प्रश्न नहीं उठा, वह पैदा तब होने लगा

जब आवरण बढ़े। यह सांस्कृतिक दृष्टि की देन थी, मानवीय मनोविज्ञान में आए उस बदलाव की देन थी जो सौन्दर्य के अनुपात और प्रतिमान ढालने लगा था। ये अनुपात ढले, प्रतिमान गढ़े गए, कसौटियाँ निर्मित हुईं। जब तक सभी नग्न थे तब तक सौन्दर्य की कोई अवधारणा नहीं थी लेकिन जब नग्नता ढँकी जाने लगी तब नग्नता को देखने के प्रति दृष्टिकोण बदला। पश्चिम में, विशेषकर यूनान में पूर्ण नग्न आनुपातिक नारी शिल्प जहाँ सौन्दर्य के मानक बने, वहीं भारत में नग्न याअर्द्धनग्न किंतु अलंकृत नारी सौन्दर्य को प्रतिष्ठा दी गई। इसका कारण शनैः शनैः विकसित होने वाला वह दर्शन था जिसकी जिज्ञासाएँ अनन्त थीं, जो सदैव प्रश्नाकुल रहता था। प्रश्न उठाता था फिर उनके समाधान देता था। उर्वर चिन्तन और इसके निरन्तर विकास ने जाने कितने सन्त, पन्थ और पद्धतियाँ विकसित कीं। भारतीय सौन्दर्य दृष्टि इसी दर्शन की देन थी जो सौन्दर्य को भरपूर तो निहारना चाहती थी, लेकिन सज्जा भाव के साथ। अलंकरण इसी सज्जा के भावदर्शन की उपज थे, वह अनुपात से अधिक लावण्य पर जोर देती थी। लावण्य को निरखने की यह लालसा कहीं उस चिन्तन से उपजी थी जो लोकोत्तर दैवीय, दिव्यता की आराधना करता था। लोक में रहते, अपने सुखमय और संपन्न बने रहने के लिए ऋग्वेद का ऋषि प्रार्थनाएँ करता है, वह मोक्ष के लिए लालायित नहीं है इसलिए ऋग्वेद में मोक्ष कहीं नहीं है, लेकिन एक लोकोत्तर सत्ता की मान्यता है, यह सत्ता दैवीय है और वेदों के बाद का सारा दर्शन इसी सत्ता के प्रति निष्ठा या जिज्ञासा के कारण जन्मा। उपनिषद्, पुराण, स्मृतियाँ, ब्राह्मण ग्रन्थ और इनसे जन्मे तरह–तरह के सम्प्रदाय और उनके देवी–देवता, उनकी कथाएँ, इतनी अधिक हैं कि उनके विस्तार में जाना प्रासंगिक नहीं है। प्रासंगिक है यह देखना कि स्त्री और पुरुष के मिलन की नैसर्गिक और अनिवार्य आवश्यकता को किस प्रकार मान्यता दी गई ?

मोहनजोदड़ो की सभ्यता के अवशेषों में यह प्रमाण मिले हैं कि उसमें शिवपूजा प्रचलित थी। 'शिश्न देवा' का उल्लेख भी प्रामाणिक रूप में मिलता है। नग्न मातृकाओं की पूजा के प्रमाण भी इसी काल के हैं। ऋग्वेद का ऋषि मोक्ष की बात नहीं करता। वह आराधना करता है :

मेरे आराध्य देव !

आप तेजः स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिए।

आप वीर्यरूप हैं, मुझे वीर्यवान कीजिए।

लेकिन यज्ञ से उबी हुई मनीषा ने जब चिन्तन को गहराई दी तो यह मिलन उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा का मिलन हो गया। पुराणों में ढेरों आख्यान हैं जिनमें शिवत्व की प्रधानता है। वास्तव में शिव की परिकल्पना वेदों में भी आदि रूप में है, तेजस्वी रुद्र के रूप में। लेकिन पुराणों में, विशेष रूप से स्कन्द, लिंग, वामन, कूर्म, शिव और पद्म पुराणों में शिव किस प्रकार के अश्लील आचरण करते थे और मुनि–पत्नियाँ उन पर काम मोहित हो जाया करती थीं, यह उल्लेख है। इस तरह यह तथ्य अपने स्थान पर संगत है कि शिव का आदि

स्वरूप लिंग का ही था तथा बाद में पनपे तंत्र, शाक्त और सहजयान तक उसका प्रभाव प्रकारांतर से बना रहा और यह प्रभाव खजुराहो के मिथुन–शिल्पों में स्पष्ट रूप से दीख पड़ा। वेदों में यज्ञ की प्रधानता थी और उपनिषदों में ध्यान की। ध्यान की प्रधानता ने मोक्ष को सर्वोपरि बनाया। इसकी पराकाष्ठा जैन दर्शन में हुई जहाँ कैवल्य के लिए कठोर साधना के विधान थे, इस परिप्रेक्ष्य में बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया। इसी मध्यम मार्ग का बड़ा हिस्सा शनैः–शनैः दसवीं सदी तक आते–आते ऐसे रूप में बदलगया जिसके केन्द्र में काम था तथा यही काम मोक्ष प्राप्ति का सोपान था।बौद्ध धर्म के महायान पंथ में कनिष्क की बड़ी महिमा गाई गई है और जिन विषयों को बुद्ध ने अव्याकृतकह कर टाल दिया, उन्हीं पर जोर दिया गया। बाद में इन्हीं साधुओं ने हर्षवर्द्धन के समय तक मंजुश्री मूल कल्प, गुह्य समाज और चक्र संवर जैसे मंत्रों को बना लिया। मंजुश्री कल्प ने तंत्र का द्वार खोल दिया। महायान के गर्भ से उपजा वज्रयान, जिसका प्रभाव आठवीं से बारहवीं सदी तक रहा। यह वज्रयान भैरवी चक्र का धर्म था। बौद्ध धर्म के मंत्रयान, वज्रयान, हीनयान या श्रावकयान तथा सहजयान ने उन सांसारिक सुखों की प्राप्ति को मुक्ति के मार्ग के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जिन्हें बुद्ध निर्वाण में बाधक मानते थे। तंत्रवाद पर इनका प्रभाव था जिसकी मान्यता थी कि सृष्टि का उद्‌भव और विकास शिव और शक्ति के संयोग से होता है। शाक्त दर्शन और सांख्य दर्शन में इस धरातल पर समानता थी कि पुरुष और स्त्री अनादि हैं तथा इनके संयोग से सृष्टि जन्मती है। सहजयान ने वह भूमि खोजी जहाँ काम और योग को आपस में मिलाया जा सके। 'ऊर्ध्वरेता' की साधना इसी प्रकार का एक मार्ग था। आगे चलकर सहजयान की एक शाखा और निकली वैष्णव सहजिया संप्रदाय। यह पातंजल योग के विपरीत थी। पतंजलि का योगदर्शन कहता था कि मन की प्रक्रियाएँ जब समाधि में जाकर शांत हो जाती हैं तब योगी अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है जबकि सहजिया संप्रदाय का मानना था कि जब मन की बाहरी और भीतरी क्रियाएँ आनंद की उच्चतम अनुभूति में विलीन हो जाती हैं तब हम अपने सहज रूप में प्रगट होते हैं।

यह संक्षेप में वह परिदृश्य है जो वाममार्गी साधना और पंचमकार के माध्यम से मुक्ति का मार्ग दिखलाता था तथा यह उस काल में प्रतिष्ठा पा गया था जो चन्देलों का था। कृष्ण मिश्र नामक पण्डित ने प्रबोध चंद्रोदय नामक नाटक लिखा। यह चंदेल शासक कीर्तिवर्मा के काल में लिखा गया था तथा यह 1065 ई. में खेला भी गया था। इस नाटक में कापालिक भी है, बौद्ध भिक्षु भी है और जैन साधु भी है। स्पष्ट है कि यह शाक्त प्रभाव उस काल में विद्यमान था लेकिन यह मानना अतिरंजित होगा कि सब कुछ यही था क्योंकि खजुराहो में यही सब कुछ नहीं है। वहाँ तो लक्ष्मण मंदिर की दीवारों पर कृष्णलीला के अधिकांश दृश्य उत्कीर्ण किए गए हैं। वैष्णव, जैन, व शैव वहाँ अपने–अपने प्रभाव के साथ मौजूद हैं। चन्देलों के समय का समाज वही मध्ययुगीन समाज था जो अंधविश्वासी था, उसके अपने लोकविश्वास, परम्पराएँ व जीवन–पद्धतियाँ थीं। वर्णव्यवस्था स्थापित थी। स्त्रियों की दशा ठीक नहीं थी और इस समाज का स्वरूप वैसा ही था जैसा आम राजा केअधीन रहने वाले समाज का होता है। भाग्यवाद की प्रबलता थी, भूत–प्रेत और तरह–तरह के देवी–देवताओं की पूजा में विश्वास

बड़ा दृढ़ था। मंत्र–तंत्र का प्रभाव और उनके प्रचारक अघोरपंथी, कापालिक, तांत्रिक बहुलता में थे। बुन्देलखण्ड में इसी प्रभाव के कारण 'खेरभाता', 'मिड़ोहिया', 'घटाइया', गौडबाबा, मसानबाबा और नटबाबा जैसे देवता आज भी पूजे जाते हैं। खजुराहो के शिल्पी चाहे वह अच्युत हो, आसल या छिच्छा वे उसी समाज से आए थे जो खजुराहो के शासकों के अधीन वह समाज था जिसकी अपनी मान्यताएँ थीं, अपनी जीवन–शैली और अपने जीवन– मूल्य थे। अब प्रश्न यह है कि ऐसे शिल्पियों की क्या बाध्यता थी, ऐसे मान्मथ शिल्पों को उकेरना जिनकी उन्मुक्तता उस समय के समाज में पूर्णतः ग्राह्य नहीं थी ? यह बाध्यता थी।

चन्देल शासकों के द्वारा निर्मित ये मंदिर तत्कालीन खजुराहो के आम व्यक्ति के लिए न तो बनाए गए और न ही वे उनके लिए सदैव निहार लेने के लिए उपलब्ध रहे होंगे। चन्देल शासक और उनसे जुड़ा हुआ आभिजात्य वर्ग ही इन मंदिरों के निर्माण से जुड़ा रहा होगा। इनके विशाल मण्डपों में निस्सन्देह धर्म चर्चाएँ, शास्त्रार्थ, नाटक और नृत्य होते रहे होंगे किंतु वे सब उसी सीमित आभिजात्य वर्ग के लिए रहे होंगे जिसने इन शिल्पांकनों को मूर्त रूप दिया। यह तथ्य अपने स्थान पर संगत है कि खजुराहो के शिल्पी की बाध्यता इन मनोरम शिल्पों को उकेरने की रही, भले वह समाज के उस वर्ग से आया हो जिसे निम्न वर्ग या सामान्य वर्ग कहा जाता है। प्रत्येक समय का सच तो यही है कि कलाकार की अपनी दुनिया होती है, उसका समर्पण केवल अपनी कला के प्रति होता है, फिर यह कला यदि किसी सम्पन्न कलान्वेषी का प्रश्रय पा जाए तो कलाकार की प्रतिभा अपने उत्कर्ष को छू लेती है। मध्यकालीन चन्देल राजा धार्मिक थे, सुरुचि सम्पन्न थे, सहिष्णु थे, कला को प्रश्रय देने वाले उदार आश्रयदाता थे लेकिन थे तो अंततः शासक ही। शासित और शासक के बीच की सीमारेखा बड़ी स्पष्ट थी इसलिए इन मंदिरों के निर्माण के लिए उत्तरदायी पूरा तत्कालीन समाज नहीं था। इसके लिए उत्तरदायी कलान्वेषी चन्देल शासक थे और वह शिल्पी जो अपने कौशल के उत्कर्ष को स्वयं निहारना चाहता था। उसने इन शिल्पों को अपने शासक के प्रश्रय में ज़रूर ढाला लेकिन पूरी स्वतंत्रता के साथ। शासक की इच्छाशक्ति और कलाकार की छटपटाहट इन दोनों के मिलन के परिणाम हैं, खजुराहो के शिल्प। यदि दबाव के कारण ये मूर्तियाँ उकेरी जातीं तो ये इतनी भावप्रवण, लोचदार और लावण्यमयी नहीं हो सकती थीं। खजुराहो के तमाम शिल्पों के मुखमण्डल पर जो उल्लासविराजा दिखाई देता है वह कलाकार के आन्तरिक उल्लास की ही परिणति है, उसकी व्यथा की नहीं।

खजुराहो के अंकन इसी यथार्थ के साक्षी हैं कि सामर्थ्य और प्रतिभा का संयोग यदि कल्पना के धरातल पर हो जाए तो यह संयोग इतिहास के जाने कितने अध्याय सामने रचकर रख देता है फिर यह समझ पाना दुरूह हो जाता है कि असली अध्याय कौन–सा है ? खजुराहो के शिल्पों की नित नई व्याख्याएँ खोजे जाने का जो अन्तहीन सिलसिला है, वह इस तथ्य की गवाही है।

इस परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट है कि तत्कालीन चन्देल शासकों ने अपनी कलादृष्टि को मूर्त करने के लिए जिन पाषाणों को चुना, उन्हें पाषाण रहने ही नहीं दिया, इन पाषाणों में उन्होंने

अपने विश्वासों की प्रतिष्ठा की। ये सभी शासक विशेष रूप से यशोवर्मन, धंगदेव और विद्याधर, उदार वैष्णव तथा शैव थे, समर्थ कलान्वेषी थे और मंदिर की पवित्रता और उसके वास्तु की शास्त्रीयता के प्रति पूरी तरह सजग भी थे।

निश्चित ही इन शासकों पर तंत्र का गहरा प्रभाव था लेकिन केवल तंत्र का ही प्रभाव नहीं था। डॉ. विद्यानिवासजी मिश्र ने अपनी कृति 'तंत्र कला और आस्वाद' में बड़ी गहराई के साथ खजुराहो अंकन के अभिप्रायों पर विचार किया है। उनकी यह सटीक मान्यता है कि खजुराहो की धार्मिक प्रेरणा के नीचे जो तंत्र का रूप है, वह एक सँवारा हुआ रूप है जिसमें बौद्धों के सहजिया संप्रदाय, शैवों के प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा वैष्णवों के मधुर भाव का एक सुन्दर संयोग है।

तंत्र का चिन्तन, साधना और प्रस्थान बिन्दु पूरी तरह अन्य साधना पद्धतियोंसे भिन्न हैं। यह एक अत्यन्त कठिन तथा जोखिम से भरी साधना है इसलिए यह रहस्यात्मक भी होती गई व इससे जुड़े समाज ने अपने आपको गुह्य समाज के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया। सामाजिक रूप से भी ये साधक अलग–थलग ही रहे। खजुराहो में जो मिथुन अंकन हैं उनमें से कुछ पर इस तंत्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वहाँ इस गुह्य का प्रकटीकरण है। किंतु खजुराहो के शिल्पी ने कामसूत्र के आसनों को भी उकेरा है जिसका कोई संबंध तंत्र से नहीं है। वहाँ पवित्रता और वात्सल्य से परिपूर्ण शिल्प भी हैं और न केवल उमा महेश्वर बल्कि विष्णु, ब्रह्मा, परशुराम, राम, काम, गणेश और अग्नि को भी युगल रूप में दर्शायागया है।

यह अद्‌भुत संयोग ही रहा होगा कि खजुराहो के शिल्पी को उन्मुक्त यौन क्रीड़ा के शिल्पांकन की सहज विरासत मिली और उसके आश्रयदाताओं को वहदृष्टि जो जीवन को समग्रता में, पूरी सहिष्णुता के साथ देखती थी, जिस पर अपारदर्शी आचरण, थोथे आदर्श और धर्म के नाम पर उपजी तथाकथित नैतिकता के भारी आवरण नहीं चढ़े थे। चंदेलों के इतिहास के तमाम पहलुओं से गुज़रने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे धार्मिक वृत्ति के पुरुषार्थी शासक थे, वे न यौनाचारी थे न उच्छृंखल, विलासी शासनकर्ता। उनके काल में छेनी और तलवार दोनों ही समान रूप से क्रियाशील रहीं।

खजुराहो की मिथुन मूर्तियों में, मान्मथ शिल्पों में जो तन्मयता झाँकती है उसमें कहीं कृत्रिमता नहीं है। यह उस गुह्य साधना का सहज प्रकटीकरण है जो सच्चे तांत्रिक की धरोहर हुआ करती थी।

वास्तुशास्त्र की दृष्टि से ये मंदिर आदर्श हैं। नागर शैली (इन्डो–आर्यन) के ये उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। सभी मंदिर ऊँचे मंच पर बने हैं। देवतायन के अग्रभाग में अन्तराल, और फिर महामण्डप बने हैं। महामण्डप के आगे अर्द्धमण्डप हैं। देवतायन के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ हैं। इनको प्रकाशमान रखने के लिए विशाल झरोखे हैं। बाह्य आकार–प्रकार में शृंग, शिखर और विमान यहाँ के मंदिरों के प्रभावकारी लक्षण हैं। खजुराहो के कुछ मंदिर पंचायतन शैली के बने हैं। इन मंदिरों के अलिन्द के कोनों पर चार गर्भगृह निर्मित हैं जिनमें मंदिर के

देवता के उपदेवताओं की स्थापना की गई है। कहीं–कहीं मण्डप के सामने देव वाहन के लिए एक और गर्भगृह बनाया गया है। अर्द्धमण्डप मंदिर के बाहरी तोरणद्वार में समाप्त हो जाता है। मंदिर के गर्भगृह में मूल प्रतिमा या शिवलिंग है। गर्भगृह के पश्चात् अर्द्धमण्डप और महामण्डप के शिखर मुख्य शिखर से क्रमशः निम्न होते चले जाते हैं। कन्दरिया महादेव में उकेरी गई अप्सराओं के विभिन्न अंकन हैं जो अलग–अलग उद्देश्यों को परिलक्षित करते हैं। गज, अश्व, वृश्चिक, वानर तथा शुक के साथ अंकित अप्सरा में पाँचों तांत्रिक शक्तियाँ, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण और बाजीकरण की प्रतीति होती है। इन मंदिरों में उत्कीर्णित हर शिल्प का अपना संकेत और अभिप्राय है।

शार्दूल, खजुराहो के कलाकार का प्रिय विषय है। वह प्रतीक है ऐसे दमन का जो उन्नयन का पथ प्रशस्त करता है। खजुराहो के मान्मथ शिल्पों के सभी अभिप्रायों को गहराई से उस मर्यादा और उस अनुशासन में ही देखना होगा जिस मर्यादा और अनुशासन के बीच वे ढाले गए, शिल्पित हुए दृष्टि को उसी समग्रता के धरातल पर स्थिर करना होगा जो दृष्टि उन चैतन्य शासकों और अपनी कलाके प्रति समर्पित निष्णात शिल्पियों की रही।

खजुराहो के मंदिर चाहे वह लक्ष्मण मंदिर हो, विश्वनाथ या कन्दरिया महादेव उन्हें अपने आपमें एक मानव देह की तरह उत्कीर्ण किया गया जिसकी जंघा पर ये शिल्प उकेरे गए आगमों में जो तंत्र की व्युत्पत्ति दी गई है उसके अनुसार दो घातु 'तन' और 'त्रा' का संयोग है तंत्र। तनोति में सृष्टि का अर्थ है और त्रायते में रक्षा का तथा 'म्' संहार का। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि, स्थिति और संहार – तीनों में व्याप्त क्रिया प्रधान शास्त्र तंत्र है। तंत्र की यह व्यंजना जब कला की व्यंजना से मिलती है तब खजुराहो के वे मिथुन–शिल्प उभर आते हैं जो तंत्र प्रभाव की देन हैं। कला का अर्थ विद्यानिवासजी मानते हैं, एक खण्ड लेकिन ऐसा खण्ड जिसके बिना सम्पूर्ण अधूरा ही रहता है। इस तरह कला संपूर्णता को मापने का पैमाना ही है। यही संपूर्णता खजुराहो के मान्मथ शिल्पों में उत्कीर्ण है। ये मंदिर वास्तु की दृ ष्टि से भी परिपूर्ण हैं।

सच यह है कि खजुराहो के शिल्पी और शासक ने हिन्दूधर्म की उस मानस चेतना को सन्तुलित रूप से उत्कीर्ण किया जिसमें काम और धर्म, दोनों के पलड़े समान थे। खजुराहो के इन मिथुन–शिल्पों को उन समस्त पवित्र और धार्मिकता से परिपूर्ण अंकनों के साथ जोड़कर देखना होगा जो मंदिरों की दीवारों पर उकेरे गए जहाँ आराधना है, अर्चना है, और भक्ति में आकंठ डूबी प्रार्थनाओं के स्वरों की अनुगूंज है। बहुत संभव है कि यदि पूरे 85 मंदिरों के शिल्प–वैभव से आज हमारा साक्षात् हुआ होता तो उस समग्र दृष्टि को परखा जा सकता था जो चन्देल शासकों की अपने समय में रही। यहाँ यह भी विचारणीय है कि इस काल का शिल्प बाहुल्य नष्ट कर दिया गया है और अपवाद रूप में ये 25 मंदिर बचे हैं जिनका केवल दसवां हिस्सा मान्मथ शिल्पों का है। इसलिए भी इन उन्मुक्त उत्कीर्णनों के पीछे छुपी अवधारणा के बारे में जिज्ञासा बढ़ी है। किन्तु यह निष्कर्ष अपने स्थान पर उचित है कि तांत्रिक प्रभाव के कारण मिथुन–शिल्प बने जिनकी विरासत शिल्पी के पास थी। तंत्र का यह

प्रभाव उन पुरुषों की दाढ़ियों के अंकन में विशेष रूप से परिलक्षित होता है जो सँवारकर आनुपातिक रूप से उत्कीर्ण की गई हैं। मोहनजोदड़ों की खुदाई में इसी तरह की दाढ़ी वाले एक पुरोहित का शिल्प प्राप्त हुआ है, जिसकी दाढ़ी के बाल–बाल को उकेरा गया है। यह परम्परा शिल्प में निरन्तर निखरती गई है। तंत्र का गुह्य दर्शन, पंचमकार के चिन्ह व मिथुन मूर्तियों में एक से अधिक पुरुषों की उपस्थिति के कारण स्वतः स्थापित भी हैं तथा इसके वाङ्मय में प्रमाण भी हैं। खजुराहो के ये मान्मथ शिल्प, मन की विलास–भंगिमाओं के वे सहज उत्कीर्णन हैं जिन्हें कलाकार की निष्पाप तृप्ति के रूप में देखा जाना चाहिए। वहाँ सब कुछ सहज है, असहज इसलिए लगता है क्योंकि काल की दूरी बढ़ी है और हमारी आज की चेतन दृष्टि सचेतन न बनी रहकर संकुचित हो गई है।

खजुराहो के ये मान्मथ शिल्प आराध्य की मनोरम मंदिर देह के उजियारे गेह हैं। यहाँ कन्दर्प की वे सारी मोह लीलाएँ हैं जिन्हें कन्दर्पेश्वर ने पराजित किया है। वही कंदर्पेश्वर यहाँ के आराध्य हैं। उन्होंने यहाँ वह सृष्टि की है जो काम की सर्जना को शार्दूल के प्रतीक माध्यम से उसकी लौकिक क्षणभंगुरता से परिचित कराती है और यह सन्देश देती है कि मोह बंधन के समस्त पड़ावों को पार करने के बाद अंतिम छोर पर वह निराकुल शिवत्व विराजा है जो जीवन की परिपूर्णता का पर्याय है, उससे एकात्म होना ही परमानंद से साक्षात् होना है। खजुराहो का रचाव, एकांगी नहीं है, वह बहुआयामी है, तमाम मानवीय सरोकारों को समेट लेने वाला, जिसका काम सिर्फ एक अंश है। खजुराहो के मूर्ति शिल्प उस काल के कलाकार की चंदनी चेतना की सुगंध से भरपूर वे पुष्प हैं जो नित्य अपने आराध्य को अर्पित होते हैं। खजुराहो इसी मनोभूमि पर उत्कीर्णित है, उसकी सहज अभिव्यक्ति यही है कि मानव अपनी उस अस्मिता को पहचान ले जिस पर कोई आवरण नहीं, जो अपने अंतिम और मौलिक स्वरूप में सिर्फ अमृता है। खजुराहो के उत्कीर्णन मनुष्य की अपनी मूल पहचान तक पहुँचाने वाले सुगम पथ हैं। अपने को जाने बिना, परमात्मा को जान पाना असंभव है, इसलिए अपनी खोई और सोई. पहचान की तलाश के लिए वे निरन्तर तरस जगाते हैं। खजुराहो शिल्प के मूल में यही तरस, यही तृष्णा और यही प्यास है।

इतिहास का यथार्थ अपने स्थान पर है, उसे बदलने का प्रयास करना निरर्थक यत्न है। खजुराहो के तमाम अंकनों का अभिप्राय एक ही है और वह है उस समय की चेतना में झलकते बिम्बों को पत्थर के दर्पणों में प्रतिबिम्बित कर देना। विवरण, विवेचन और व्याख्याओं की सीमित परिधि को लाँघकर जो रचा गया है वह शायद इसलिए कि भले वे हाथ न रहें, वे छेनियाँ न रहें, वे लेप न रहें, लेकिन वह सदैव के लिए रह जाए जो मन की गोपन छटपटाहट की अभिव्यक्ति है, जिसे अभिव्यक्त करना कलाकार ने अपना धर्म और कर्म माना।

खजुराहो के मूर्तिशिल्प अपने समय की कहानी कहते हैं। लक्ष्मण मंदिर, कन्दरिया महादेव, विश्वनाथ पार्श्वनाथ, जगदम्बा, मतंगेश्वर या वामन मंदिर में और अन्य सभी शेष बचे मंदिरों में अपने काल के यथार्थ के साथ–साथ मन के उस विलास को भी पूरे कौशल के साथ उकेर दिया गया है जिस विलास की अभिलाषा हर मानस में विद्यमान रहती आई।

कलाकार का यह साहस श्लाघनीय है। यह निर्भय भाव तभी जन्मता है जब मन निस्पृह हो। खजुराहो के कलाकार की कल्पना स्पृहा पैदा कर देती है। उन्होंने कविता नहीं रची, कहानी रची, ऐसी कहानी जिसका शब्द–शब्द काव्य में ढलता चला जाता है। माणिक वर्मा की पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं :

मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है
जब दृष्टि सुन्दरता की अंतिम गहराई तक पैठ गई थी
    चेतना अपाहिज होकर बैठ गई थी।
मेरे समक्ष था चन्दन का पेड़, जिस पर खिला हुआ गुलाब का फूल
फूल पर बनी हुई दो नीली झीलें, झीलों पर पहरा देतेदो साँप
जिनका ज़हर, इतना तीखा, इतना तेज़, बिना डसे ही
    रग–रग में दौड़ रहा था,
    इससे पहले कि मैं कुछ समझूँ
जुही, चमेली, चम्पा की मिली जुली गंध
मेरी साँसों से टकराई
    चेतना बौराई
    मैं लड़खड़ाया,
    सहसा एक हाथ मुझे थामने आया,
    तब मैं समझ पाया
    मेरे होशो हवास गुम थे,
    मेरे सामने चन्दन का पेड़ नहीं तुम थे।

इस कोमल, रेशमी हाथ के थामने के साथ ही, खजुराहो की कहानी आरम्भ हो जाती है।

कला, एक मुखर मौन

मोह के बंधन, बाँधते रहते हैं और इन बंधनों में बँधकर हम यह उद्‌घोष करते रहते हैं कि बंधनों पर हमने विजय पा ली। बँधना कभी मुक्त होना नहीं होता, यह ज़रूर होता है कि बंधन, मुक्ति का भ्रम दे दे। ऐसे कई भ्रम जन्म गए हैं जिनमें से एक है भाषा। भाषा से बड़ा कोई मोहक बंधन नहीं है। लेकिन इसी भाषा ने बंधनजयी होने का, मुक्त होने का उन्मुक्त उद्‌गान किया है। भाषा की इस भंगिमा ने हमेशा अनुभव को विस्मित किया क्योंकि सच्चा तो अनुभव होता है, वह जब छल देखता है भाषा का तो विस्मित हो जाता है। अनुभव ने देखा कि भाषा ने परिभाषाएँ गढ़ी हैं जो कहीं उसके विस्तार को, उसकी व्यंजना को सीमित करती हैं। अनुभव के आख्यान के नाम पर गढ़ी गई ये परिभाषाएँ कभी–कभी बड़ी कृत्रिम और अर्थहीन होती हैं इसलिए जब अनुभव का मौन, मुखरित होता है तब वह भाषा के बंधन को तोड़ देता है और उतर जाता है अजन्ता की भित्तियों पर, खजुराहो के मंदिरों की लचीली पाषाणी दीवारों पर, मिट्टी, काष्ठ और कांस्य के शिल्पों पर। यहाँ अनुभव विजय पाता है भाषा पर, परिभाषा पर और निरन्तर रचता चला जाता है उस रचाव को जिसे भाषा के बंधन नहीं बाँध पाते। यही रचना कला है।

दादा माखनलाल शायद इसीलिए कला को लड़की की तरह मानते थे जो स्वयं जन्म लेती है और फिर नए संसार को जन्म देने लगती है। एक नई सृष्टि का जन्म हर उत्कीर्णित पाषाण में, हर चित्र में, हर शिल्प में विद्यमान है। इस सृष्टि का सीधा संबंध मन–मानस से है किन्तु परिभाषा इसे भी बाँधती आई है। विचार करना मानवीय चेतना की मूल आदिम प्रवृत्ति है और उसका माध्यम भाषा है इसलिए कला को लेकर निरन्तर चिन्तन हुआ लेकिन यह तथ्य अपने स्थान पर विद्यमान है कि इस चिन्तन का उद्‌गम भी सृजन की मनोभूमि से ही हुआ और अंततः उसे वहीं समा जाना पड़ा। इस सारी प्रक्रिया का एक परिणाम यह हुआ कि कला दुरूह बन गई। वह अकादमिक शब्द बनी, चुनिंदा लोगों का एकाधिकार बनी जिसकी वजह से उसकी व्यंजना सीमित होती चली गई।

कला वास्तव में परम्परा से मिली धरोहर और नित्य विकास की आकांक्षा पालने वाली समूचे लोक जगत की चेतना की मिली–जुली अभिव्यक्ति है और यही अभिव्यक्ति जब संस्कारित होती चली जाती है तब संस्कृति का स्वरूप और निखरता चला जाता है।

रॉबर्ट रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर जैसे पाश्चात्य विद्वानों से लेकर तमाम पश्चिम और पूर्व के समाजशास्त्रियों और संस्कृतिविदों ने परम्परा के उत्स की खोज की, उसकी अवधारणा का स्वरूप निश्चित किया लेकिन उनके अध्ययन उस लोकचेतना को व्यक्त नहीं कर पाए जो सच्चे अर्थों में कला को जन्म देती आई है, उसे अनेकानेक रूपों में रूपित करती आई है। मानवीय विकास की यात्रा इसी लोकचेतना के पथों पर अविराम जारी रहती है। यदि ये पथ न हों तो इतिहास भटक जाए, विकास की दिशा शायद वहाँ मुड़े जिसके कोई अंतिम छोर ही न हों। चिन्तकों और विचारकों ने कला की इस भाव–भूमि को छूने का बहुत प्रयास किया है।

इसलिए कि वह अनुभव जिससे कला जन्मती है, इतना समृद्ध और सम्पन्न था कि विचार उसकी अनदेखी नहीं कर सकता था। वह विवश था इसकी व्याख्या करने के लिए।

यह दिलचस्प होगा कि इस विचार–यात्रा का भी विहंगावलोकन किया जाएँ सौन्दर्य को कला की आत्मा माना गया। प्लेटो और अरस्तू के समय से सौन्दर्य को लेकर गहरा विमर्श हुआ जो आज तक जारी है। इस तथ्य पर विचार किया गया कि कला और सौन्दर्य में पारस्परिक संबंध क्या हैं ? सौन्दर्य को परमात्मा की हस्तलिपि कहा गया। अमेरिकी दार्शनिक सान्तियाना का कहना था कि सौन्दर्य देखने वाले की दृष्टि में होता है वस्तु में नहीं। एक ओर जहाँ काण्ट, रस्किन, शिलर और हीगल जैसे विचारकों ने सौन्दर्य को आत्मा की ऐंद्रीय अभिव्यक्ति माना, वहीं दूसरी ओर हेचेसन और एलीसन ने सौन्दर्य को सहचर के रूप में देखा। फ्रायड ने सौन्दर्य को कामप्रेरित इन्द्रियजनित अनुभूति माना तो मार्क्स के मत के विपरीत इमर्सन, टॉलस्टॉय, कालिंगवुड और हर्बर्ट जैसे चिन्तकों ने सौन्दर्य को आन्तरिक अनुभूति माना। सौन्दर्य को लेकर एक अलग अनुशासन ही बना दिया गया। बामगार्टन (1714 ई. से 1762) ने सबसे पहले सौन्दर्य–शास्त्र को दर्शन से पृथक् किया। उसने दर्शन या फिलॉसफी को तीन हिस्सों में बाँट दिया, इथिक्स, को अलग करते हुए उसने एस्थेटिक्स या सौन्दर्यशास्त्र को पृथक शास्त्र के रूप में स्थापित कर दिया। पश्चिम के इन विद्वानों के भी दो मत हुए क्रोचे और गिफ्सन जैसे चिंतक यदि मानते थे कि कला भावों की भाषा है, वह प्रकृति के न केवल निकट है अपितु दोनों एक–दूसरे पर आश्रित हैं या कला प्रकृति का अनुवाद है तो दूसरी ओर हाफ्टमैन ने यह कह दिया : अब मानव दृश्य ज्ञान को विशेष महत्त्व नहीं देता, उसके मनःपटल पर जो प्रतिमाएँ उभरती हैं उनका महत्त्व है। निसर्ग एक बहाना मात्र है तथा यह विचार ज़ोर पकड़ रहा है कि निसर्ग को कला से हटाया जा सकता है।

मार्क्स और एंजल्स के विचारों ने पूरी विश्व–चेतना को आन्दोलित किया। उनका मानना था कि श्रम विभाजन कला के उद्‌भव और परवर्ती विकास का मूलाधार है। लेनिन ने इस दृष्टि को विस्तार दिया। उसने माना कि कला यथार्थ की अभिव्यक्ति तो है लेकिन वह मानवीय अस्तित्व के सभी पक्षों–वस्तुपरक और आत्मपरक आशय को समाहित करती है। मार्क्सवादी विचारकों की कलादृष्टि आज भी नववामपंथ में अपने आयाम खोज रही है। प्लेखानोब, वेलेंस्की, चर्नीशेवस्की, काडवेल, फॉक्स, हर्बर्ट मार्क्यूस और चाडयांग तक ने इस दृ ष्टि की व्याख्यां अपनेअपने तरीकों से की। हमारे यहाँ डॉ. रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी सौन्दर्य–शास्त्र पर गहराई से विचार किया। डॉ. नामवर सिंह तथा रमेश कुन्तल मेघ से लेकर डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र तक एक परम्परा बनी, मार्क्सवादी दृष्टि से कला और सौन्दर्य का आकलन करने की।

इस आकलन का यही निचोड़ है कि समग्र यथार्थ का सच्चा और नपा–तुला प्रस्तुतीकरण ही कला का काम है, समस्त कला रचना किसी प्रकार की तात्विक या रूपगत यथार्थ को ख़ास प्रतिनिधिक सामग्री में रूपांतरित करने में निहित होती है। मार्क्सवादी चिंतक

यह भी मानते हैं कि पूंजीवादी समाज के अपने अन्तर्विरोध हैं जिनके कारण कला का अवमूल्यन ही हुआ। उनके नजरिए से कला सचेतन श्रम का परिणाम है।

यह दृष्टि विचारकों की है। जहाँ तक कलाकारों का संबंध है उनके अपने विचार रहे हैं। ये विचार इन चिन्तकों के विचारों से भिन्न हैं क्योंकि कलाकार का भाव बँधने का नहीं होता। वह तमाम तरह की शास्त्रीय अवधारणाओं के दबाव से मुक्त होता है। वह किसी वाद विशेष के प्रति विश्वासी हो सकता है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति नितान्त मौलिक होती है। इसलिए रिनॉसां के महान कलाकार लियोनार्दो दि विंशी ने कहा : "कलाकार, कला में किसी की अनुकृति नहीं करता, वह उसका सृजन करता है।" पिकासो कहता था, "कला में मंतव्य के लिए कोई स्थान नहीं है, चित्रकार का काम केवल चित्रांकन करना है। यदि उसकी कृति को कला कारूप लेना है तो वह स्वयं ले लेगी।" और वॉन गॉग ने कहा, "मैं रंगों का प्रयोग पूर्ण स्वेच्छा से करता हूं जिससे मैं दृश्य के प्रति मेरी आन्तरिक भावनाओं को प्रभावी रूप में अंकित कर सकूँ।"

आशय यही है कि अपने काम के प्रति यदि पश्चिम के कलाकार की दृष्टि अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की रही तो उनके काम पर विचार करने वाले चिन्तकों ने उसकी व्याख्या अपने अपने ढंग से की, फिर जो पश्चिम के दर्शक थे, उनका अपना मत भी भिन्न रहा।

फ्रांस कला का केन्द्र रहा, आज भी है। वहाँ बीसवीं शताब्दी में कला के अनेक वाद जन्मे जैसे प्रभाववाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद, अतियथार्थवाद, क्यूबिज़्म और फ्यूचरिज़्म। अमूर्त कला तथा अस्तित्ववादी कला का आगमन एक नई रूप–रेखा के साथ कला जगत में हुआ। फ्रांस की प्रयोगधर्मी कला–चेतना आज भी उसी गति के साथ सक्रिय है जिस गति के साथ वह पिछली अनेक शताब्दियों से वहाँ सक्रिय रही। देरिदा का विखण्डनवादी दर्शन एक नए धरातल पर कला की व्याख्या करता है। उनका ज़ोर कला की ध्वन्यात्मकता पर है।

पश्चिम की कला परम्परा, उसके दर्शन, और उससे जुड़े विभिन्न आयाम कला की भारतीय अवधारणा से भिन्न हैं। इन अर्थों में कि भारत में कलाकार उसी चिन्तन को अभिव्यक्ति देता आया है जो चिन्तकों के विचार केन्द्र में रही। वहाँ भिन्नता के धरातल नहीं के बराबर हैं।

इस प्रसंग में बहुत कुछ लिखा और कहा गया है। किन्तु यह तथ्य अपने स्थान पर संगत है कि पाश्चात्य कला अवधारणा मूल रूप से ही भारतीय कला चिन्तन से भिन्न रही है।

भारतीय कला–दृष्टि अपने आपमें विलक्षण है। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में यह स्थापित किया कि भारतीय चेतना ने सौन्दर्य को मूलतः रस के रूप में ग्रहण किया है। भरत ने कला और उसमें निहित सौन्दर्य, इन दोनों को रहस्यात्मकता के आवरण से मुक्त किया और उसे आम आदमी के जीवन से सीधा जोड़ा। भरत ने सौन्दर्य के मनोविज्ञान को समझने की कोशिश की। उन्होंने रस को स्थायी भाव माना। उनकी यह एक बड़ी देन रही की उन्होंने

सारी कलाओं को, अलग–अलग न बाँटते हुए मूलतः एक माना तथा इनके केन्द्र में नाट्य को रखा। नाट्य के प्राण अभिनय में बसते हैं, और अभिनय का अर्थ था चारों ओर सब प्रकार से अपने आपको ले जाने, प्रकट और रूपित करने या अभिव्यक्त करने की सहज प्रवृत्ति। भरत ने रस के साथ अर्थ की भी बात की। आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक से अर्थ कोउभारा। भारतीय सौन्दर्य–दृष्टि बड़ी उदार रही। उसने सुंदरता को लोक–मंगल की भावना से जोड़ा। इस अवधारणा में सुंदरता का अर्थ रूप तक सीमित नहीं था। कालिदास ने कुमारसंभव के पाँचवें सर्ग में पार्वती से रूप की अवहेलना दिखलाई है। रूप के गर्व का व्यवहार कभी भारतीय कला अवधारणा के केन्द्र में नहीं रहा। सौन्दर्य की यह दृष्टि रस्किन के उन विचारों के निकट थी, जिनके अनुसार कला रचनाओं का स्रोत कला प्रेम पर आधारित नहीं, बल्कि पर्वतों और समुद्र पर है।

कला के संदर्भ में तथा सौन्दर्य तत्व के विवेचन में वेदों से लेकर आज तक वाङ्मय की निरन्तर परम्परा रही। यह सौन्दर्य अनुभूति के स्तर पर है, अनुभव के स्तर पर है, दृष्टि केवल निमित्त है। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक भारतीय षडंगदर्शन में विस्तार से हमारी कला के अर्थों को स्पष्ट किया। संस्कृत साहित्य में कला शब्द का प्रयोग लगभग 20 अर्थों में हुआ। इनकी व्याख्या करते हुए डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने लिखा कि कला का अर्थ है खण्ड, किन्तु ऐसा खण्ड जिसके बिना संपूर्ण अधूरा ही रहता है। एक तरह से कला संपूर्णता को मापने का पैमाना ही है। वे आर्ट शब्द को ऋतु शब्द का संवादी मानते हैं। वे मानते हैं कि कला की जीवन से अलग कोई स्थिति नहीं है और यही कारण है कि हमारे यहाँ कला, कला के लिए है या जीवन के लिए, यह विवाद नहीं उठा। कला हमारे जीवन का रागात्मक संस्कार है।

भारतीय कला दृष्टि का आधार रस और आनंद ही है। उपनिषदों में आनंद तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई तथा "रसो वै सः" वाक्य से इस तत्त्व का स्थापन हुआ, जिसका निरन्तर पल्लवन होता रहा। कालिदास ने माना कि जो सात्त्विक भाव की प्रेरणा दे वही सच्चा सौन्दर्य है। "प्रियेषुः सौभाग्यफला हि चारुता" (कुमारसंभव 5/36) माघ, भारवि और रूप गोस्वामी ने इसी धरातल पर सौन्दर्य का आकलन किया। 'सत्यम शिवं सुंदरम्' को कला की पूर्णता का मानक माना गया और इसीलिए उसे सच्चिदानंद का स्वरूप प्रदान किया गया।

आधुनिक युग में डॉ. आनंदकुमार स्वामी ने भारतीय धर्म, कला और सौन्दर्य के बारे में बड़े विस्तार से विचार किया। उनकी धारणा थी कि कर्म में अनासक्ति भारतीय धर्म का सर्वसम्मत सिद्वांत है। यही जीवन का उद्देश्य है जो काव्य में चित्रकला तथा मूर्तिकला में अभिव्यक्त हुआ है। काम केवल शरीर करता है और आत्मा सदैव गंभीर, अविचल एवं अनासक्त रूप से अलग खड़ी रहती है, जैसे वह कोई दृष्टा हो, मानो वह कोई नाटक देख रही हो, जिस नाटक की अभिनेत्री वह स्वयं ही है। भारतीय कला, धर्म, संस्कृति समाज और मानवीय व्यापार के समस्त क्षेत्रों से जुड़ी रही और उन्हीं के बीच से बार–बार नित नये स्वरूपों में उजागर भी होती रही। भारत में ललित कलाओं का इतिहास भी बड़ा पुराना है। वेद, पुराण,

रामायण, महाभारत, जैन और बौद्ध साहित्य के ग्रन्थ, नीतिसार, नाट्यशास्त्र, कामसूत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, काव्य, नाटक तथा कथाओं, आख्यायिकाओं में इनका विकास मिलता है। हमारे वाङ्मय की परम्परा के माध्यम से ईसा पूर्व की अनेक शताब्दियों से लेकर वर्तमान तक भारतीय चित्रकला का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

हमारे पुरखों के लिए कला सज्जा या सौष्ठव मात्र नहीं थी वह समाज साहित्य और दर्शन में प्रतिष्ठित थी। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को आनंदमय कहा गया। किसी वस्तु में सौन्दर्य को देख लेना कलात्मक व्यापार नहीं है। कलात्मक व्यापार है ऐसी दृष्टि दे देना जो सौन्दर्य को देख सके।

संस्कृत साहित्य में पंचदशी नामक एक अद्‌भुत ग्रन्थ है जिसे आचार्य माधव विद्यारण्य ने रचा। इस ग्रन्थ के चित्रदीप नामक छठे प्रकरण में चित्रशास्त्र के विधानों के अनुसार ब्रह्म तत्त्व पर विचार किया गया है। वैसे विष्णु धर्मोत्तर पुराण और चित्रसूत्र में कला, विशेष रूप से चित्रकला के बारे में विवेचन है। लेकिन पंचदशी इस मायने में अद्‌भुत है कि वह आन्तरिक अवधारणा को स्पष्ट करती है। भारतीय कलादर्शन के बारे में बड़े विस्तार से विद्वानों ने विचार किया है और हमारे पास सौन्दर्य और कला की भारतीय दृष्टि के बारे में वेदों से लेकर आज तक अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इस संक्षिप्त विवेचन का सार यही है कि चाहे पाश्चात्य दृष्टि से या पौर्वात्य दृष्टि से कहें, कला एक मात्र ऐसी धरोहर है मनुष्य की, जो केवल उसी की निधि है। वह केवल आँखों के द्वारा देखे जाने वाला उत्सव मात्र नहीं है। वह सिर्फ यथार्थ का चित्रण नहीं है, बल्कि इस तथ्य का संकेत भी है कि जीवन कैसा होना चाहिए ? कला मानव के उल्लास और अवसाद की अनायास होने वाली अभिव्यक्ति हैं, वह दूब की तरह मन में उगती है, उसे रोपा नहीं जा सकता। रोपना कभी कलात्मक नहीं होता। उर्वर मनोभूमि पर सहज उग जाना ही कला है। सँवरना कला नहीं है। अनायास सँवरे हुए दिखाई पड़ते रहना कला है। कृष्ण साँवरे हैं, उनके पास सोलह कलाएँ हैं। उन्हें संवारा नहीं जा सकता इसीलिए वे कलापुरुष हैं। तमाम तरह की कलाओं में जो दृष्यमान अभिव्यक्ति है वह कला नहीं है, बल्कि उसकी प्रस्तुति मात्र है, क्योंकि कला तो चेतना की उस प्राणशक्ति का नाम है जो अचेतन को चेतन बना देती है।

कला एक उन्मुक्त संस्कार है। उसे शब्दजाल में समेटने का यत्न करना या विधान में बाँधना बेमानी है।

कृति कला नहीं होती। मनुष्य को परिभाषित करने वाले तीनों व्यापार कृति, भणिति तथा निर्मिति अर्थात् करना, कहना और बनाना, में से कृति इस व्यापार का सिर्फ एक अंग है। कृति इनमें महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि उसमें कहीं कला की आत्मा विराजती है।

कला सागर की जल सतह पर नर्तन करने वाली तरंगों में स्थित नहीं है वह तो समुद्र की अतल गहराई में ठहरे उस निष्कंप जल की तरह है जो सतह पर हिलोरों की अठखेलियाँ निस्संग भाव से निहारता है। कला को किसी के साहचर्य की आवश्यकता नहीं है। कला के

नाम पर जो कुछ दिखाई पड़ता है वह कला नहीं कृति है। कला के पास केवल दृष्टि होती है इसे जो आत्मसात कर ले वह दृष्टा हो जाता है, कलाकार हो जाता है। चित्र में, मूर्ति में मिट्टी और धातु–शिल्प में जो स्थिरता–सी दीखती है वह दृष्टिभ्रम है। वे बड़े गतिशील हैं बशर्ते कि उन्हें अन्तर्दृष्टि से निहारा जाए ये सब मन के वे निर्माण हैं जो किसी माध्यम से रूपित हो जाते हैं।

कला के बारे में यों इतना लिखा, पढ़ा और कहा गया है कि उसकी कोई सीमा नहीं। जहाँ भाषा हो, विचार–सामर्थ्य हो, व्यक्त करने का कौशल हो वहाँ सब कुछ अन्तहीन ही लगता है। लेकिन आज के समय में कला के नाम पर जो अमूर्तन जन्म रहा है, जिसकी संप्रेषणीयता नहीं है, जो लोक–चेतना का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता, उसके संबंध में फिर से सोचना होगा।

मध्यकाल के वे लघुचित्र जो गीतगोविन्द से लेकर केशव की रसिकप्रिया और कविप्रिया के आधार पर बनाए गए, या वे पाषाणी शिल्प जो तमाम उत्तर और दक्षिण भारत के मंदिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण कर दिए गए या वे काष्ठ, मिट्टी और कांस्य से बनी मूर्तियाँ जो आज विभिन्न संग्रहालयों में, विभिन्न युगों की हैं उनका सीधा सन्देश यही है कि वे मनुष्य के विश्वास और उस समय की जन–चेतना को इतने मनोरम रूप में व्यक्त करती हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हें देखता है और उनमें कहीं अपने विश्वासों की झलक पाता है या मन की उस उत्कंठा को शान्त करता है जिसके निदान उसे कहीं मिलते नहीं।

चिदम्बरम शैली के नटराज में वह सिर्फ ताण्डव नहीं देखता, इतिहास के रचाव को देखता है, संहार और सृजन की पूरी यात्रा के दर्शन करता है।

कला की एक समृद्ध विरासत है देश के पास जिसका निरन्तर विकास हुआहै लेकिन यह एक तथ्य है कि आज जो भी कला के नाम पर सोचा, लिखा और बोला जा रहा है वह इतना दुरूह और अकादमिक हो गया है कि आम आदमी की चेतना उससे कहीं संलग्न नहीं है। इसलिए कृति जिसे कलाकार बना रहा है वह व्यंजित नहीं हो पा रही है। उसके सरोकार समष्टिगत होते हुए भी, समाज के लिए अर्थ नहीं देते।

जब तक लोक–चेतना की झलक कृति में दिखाई नहीं देगी तब तक इस सिलसिले को बरकरार रहना है। लेकिन कब तक ? समय आ गया है जब अपनी निजी आकांक्षाओं के शिल्प ढलने बंद हों। ये शिल्प ढलने बंद हुए भी थे लेकिन वैचारिक दबावों ने कलाकार के हाथ बाँध दिए।

मुझे याद आ रहा है, सूदूर खानदेश, जिसे मैं कान्ह देश कहता हूँ में पनपी एक लोकशैली 'कान्हेरी' में किसी अनाम चितेरे के द्वारा गीतगोविन्द पर आधारित बनाया गया वह लघुचित्र जिसमें एक किसान अपने खेत में मोठ चला रहा है। सींच रहा है ज़मीन को ताकि भरपूर फसल उपजे और क्षुधा दूर हो सबकी। वह पूरी एकाग्रता के साथ मोठ खींच रहा है और उसी चित्र के एक कोने पर उस कलाकार ने बनाए हैं कृष्ण और राधा के युगल। उन्हें

एक छोटे–से मंदिर में प्रतिष्ठित किया है। राधा–माधव का यह युगल उसके अक्षत विश्वास का प्रतीक है। मोठ चलाते किसान का कहीं कोई वर्णन गीतगोविन्द में नहीं है लेकिन उस चित्रावली में यह अनुपम और अनोखा चित्र है जिसने उस अनाम कलाकार को ऐसी भव्य ऊँचाई दी है कि जिसके सामने कला के सारे प्रतिमान बौने दीख पड़ते हैं।

कृष्णउसके विश्वास हैं और उसका इस विश्वास से भरपूर श्रम यह सिद्ध कर रहा है कि कला सच्चे अर्थों में लोक की वह सार्थक अभिव्यक्ति है जो तमाम परिभाषाओं से परे है, जिसे भाषा अपने शिल्प में पिरो नहीं सकती, इसी लोक विश्वास में सृजन के वे बीज समाए हैं जिन्हें उगकर हमारी सच्ची संस्कृति के वृक्षके रूप में पनप जाना है।

लोक–विश्वास की धरती पर उगे वृक्ष कभी पतझर नहीं झेलते।

'एक छोटा सा ब्रेक'

चुनावी नतीजों के आने का सिलसिला जैसे ही शुरू होता है, दूरदर्शन के कई चैनल्स पर बहस शुरू हो जाती है। नतीज़े आते हैं, विश्लेषक और राजनेता इस बहस में हिस्सेदारी करते दिखाई देते हैं। यह बहस जैसे ही किसी रोचक मोड़ पर पहुँचती है, बहस संचालक अचानक बोल पड़ते हैं, "बहस जारी रहेगी लेकिन पहले एक 'छोटा सा ब्रेक'।" यह ब्रेक उन विज्ञापनों के लिए होता है जिनके बल पर दूरदर्शन के चैनल प्रति मिनिट के हिसाब से पैसा वसूलते हैं। ब्रेक के खत्म होने के बाद वह तन्मयता की डोर टूट जाती है। वह रोचक मोड़ जो ब्रेक के पहले होता था जाने कहाँ खो जाता है। एक रोचक सिलसिला यह ब्रेक तोड़ देता है।

बड़ा आसान होता है कि किसी सिलसिले को तोड़ देना और उतना ही मुश्किल होता है उसे जोड़ना। टूटी हुई तन्मयता के जाने कितने टुकड़े बिखरे पड़े रहते हैं, उन्हें न कोई जोड़ता है न परवाह करता है कि वे जुड़ें।

'ब्रेक', ब्रेक होता है, छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटा इसलिए कहते हैं कि उसे छोटा कहना सांत्वना देता है और वह सब देखते रहने को मजबूर करता है जिसे बार–बार देखना बड़ा त्रासद होता है। ब्रेक का मतलब ही है – टूट जाना, भंग हो जाना। यदि सिलसिले को बनाया तो फिर उसे बीच से तोड़ते क्यों हैं ?

सिलसिले को बीच से तोड़ देने का निर्मम संस्कार पनप गया और पुष्ट भी होता चला गया। इस संस्कार ने देश के विकास की गति को भंग किया, निर्माण में दरारें पैदा कीं और उम्मीद की उस पतंग को आसमान में बेसहारा छोड़ दिया जो हमारे विश्वास की डोर से बँधी रही।

यह नियति ही बन गई कि 'ब्रेक' अवश्यंभावी हो गए अपने देश के विकास पर ही नज़र डालें, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति से पहले से, ईसा के जन्म के हज़ारों वर्षों पूर्व से इतिहास की रचना शुरू होती है। वेदों के बाद ब्रेक आता है। यज्ञ की तन्मयता भंग होती है और औपनिषदिक ज्ञान के अलग मोड़ पर, चिन्तन और आचरण दोनों चल पड़ते हैं। फिर स्मृतियाँ, ब्राह्मण स्मृतियाँ, पुराण और सारे वाङ्मयकी यात्रा में बार–बार ब्रेक, फिर नए मोड़ों का उभरना। बुद्धि पर बल देते बुद्ध अवतरित होते हैं तो कृच्छ साधना का मार्ग दिखाने वाले महावीर। इस बुद्धत्व में फिर बार–बार ब्रेक लगते हैं, महायान, हीनयान, श्रावकयान, वज्रयान, सहजयान और वैष्णविया सहजयान तक आते–आते वह सब मौलिकता नष्ट हो जाती है जो बुद्ध की मूल देन थी। इसी तरह विभाजन होता है जैन धर्म में, श्वेताम्बर, दिगम्बर फिर अनेक तरह के अलग–अलग पंथ। सनातनी चेतना भी बार–बार टूटती हैं, नागार्जुन से लेकर शंकर तक, उसके बाद सम्प्रदायों में वैष्णव, शैव, शाक्त, अधोरपंथी और मध् यकाल में तो तंत्र का वर्चस्व हो जाता है। इसी के समान्तर बहती है भक्ति की धारा, उनसे जुड़े महानायक राम और कृष्ण फिर उनसे जुड़े संप्रदाय, मठ, पूजा विधान और पद्धतियाँ। धर्म और दर्शन में ही

नहीं कला और संस्कृति के क्षेत्रों में भी जाने कितने ब्रेक हैं। मोहनजोदड़ो के उत्खनन में मिली नृत्यरत कन्या से लेकर शुंग, सातवाहन, इक्ष्वाकु, मौर्य, गुप्त, कुशाण, वाकाटक, गांधार, चालुक्य, पल्लव, पांड्य, राष्ट्रकूट, पाल, सेन, चोल, गंग, होयसल, प्रतिहार, सोलंकी, परमार कलचुरी और चन्देलों तक उकेरी गई यक्षी, नायिका, शालभंजिका और खजुराहो की सुरसुन्दरी। बुद्ध का जीवन, जातक, राम और कृष्ण की लीला के मनोहारी अंकन। चित्रकला में भीम बैठका तथा जोगीमारा के बाद पाल, जैन, अपभ्रंश, गुजरात, मुग़ल, दकनी, राजपूत और पहाड़ी। फिर इनके भी अलग–अलग ब्रेक और इस ब्रेक के बाद पनपी अनेकों शैलियाँ, पहाड़ में कांगड़ा, गुलेर, बसोहली, बिलासपुर, नूरपुर, गढ़वाल, मण्डी, चम्बा और इनकी तरह जाने कितनी, फिर राजपूताने में बूँदी, मेवाड़, नाथद्वारा, जयपुर, अलवर, कोटा, किशनगढ़, देवगढ़, बीकानेर और रियां तक की उपशैलियाँ या स्वतंत्र कलमें। इसके बाद कंपनी शैली, राजा रविवर्मा की अपनी शैली, फिर अमूर्तन कला आज के हुसैन तक। संस्कृति में आर्यों का आगमन, उसके बाद शक, हूण, कुशाण, मौर्य, गुप्त, मुगल और इन सबके मेल–जोल से बनी हमारी आज की बनी सांस्कृतिक अस्मिता।

वाङ्मय में वेदों से लेकर गीतगोविन्द तक, फिर पूरा भक्ति काव्य, तुलसी और सूर जैसे मानक पुरुष, फिर भारतेन्दु के बाद गद्य और पद्य के क्षेत्रों में जाने कितनी विधाओं के युगों से गुज़रते आज उत्तर आधुनिकतावाद तक।

संगीत में वैदिक ऋचाओं के संगीत से लेकर नाद की ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा कर हनुमान और मत्तंग की परम्परा में, जाने कितने राग, रागनियाँ और रागपुत्र जन्मे जो आज के पॉप संगीत तक इस सदी के अन्त में आ गए शंखध्वनि से आरम्भ होने वाली यात्रा सिंथेसाइज़र के मोड़ पर आ खड़ी हुई। तमाम तरह की नृत्य शैलियाँ विकसित हुईं और आज डिस्कोथिक में वे पाँव डगमगाते डोलते हैं जो कभी कथकली और कत्थक में थिरकते रहे हैं।

यह बड़ी संक्षिप्त–सी बानगी है उस नैरन्तर्य की जो कायम तो रहा लेकिन जिसमें छोटे–छोटे ब्रेक लगे और परिणाम यह हुआ कि विभाजन की प्रक्रिया तेज़ होती गई। इस विभाजन ने हरेक अनुशासन को एक–दूसरे से अलग कर दिया। संवाद टूट गया। धरातल इतने हो गए और इतने ऊँचे–नीचे कि उनकी पहचान का संकट खड़ा हो गया। यह होता ही है। विकसित होने की प्रक्रिया का यह अनिवार्य परिणाम है मगर इस ब्रेक को ब्रेक ही मान लिया जाना दुःखद सिद्ध हुआ। जो टूट गया उससे अपने आपको तोड़ लेना उचित नहीं होता।

आज यदि इन्टरनेट आया है तो यह इन मायनों में वरदान है कि वह यह अवसर दे रहा है कि ये अलग थलग पड़े अनुशासन एक–दूसरे से जोड़े जा सकें। इन्हें जोड़कर फिर अपनी अन्तर्दृष्टि को विकसित करना कहीं चेतना के फलक को विस्तार देगा। यह सिर्फ अपने देश के टूटे–बिखरे संवादों में ही ऐक्य स्थापित नहीं करेगा बल्कि पूरे संसार के संवादों से भी हमें जोड़ देगा।

आज सूर के पद की ये पंक्तियां बड़ी प्रासंगिक जान पड़ती है :

जनम साहिबी करत गयौ।
काया नगर बड़ी गुंजाइस नांहिन कछु बढ़यौ।।

जनम तो साहिबी करते गुज़र गया। काया के नगर में बड़ी गुंजाइश थी बढ़ने की लेकिन कुछ भी नहीं बढ़ पाया। यही साहिबी, ब्रेक है, छोटा–सा ब्रेक जो कहते समय छोटा होता है मग़र होता इतना बड़ा है कि वह तन्मयता को, निरन्तरता को तोड़ देता है और बढ़ने की, विकसित होने की सारी संभावनाओं पर विराम लगा देताहै।

कम–से–कम अठारहवीं सदी तक ऐसा परिदृश्य नहीं था। विज्ञान इतना उन्नत नहीं था फिर भी साहित्य, समाज, संस्कृति, कला, और धर्म के विभिन्न अनुशासन एक–दूसरे से जुड़े रहते थे, एक–दूसरे को प्रभावित करते थे, उनकी एक दूसरे के विकास में हिस्सेदारी हुआ करती थी। यह हिस्सेदारी आज नहीं होती। इसलिए कि पहले के ब्रेक और आज के ब्रेक में अन्तर है। पहले जो ब्रेक इन समस्त क्षेत्रों में लगते थे उनसे कहीं विकास की निरन्तरता बढ़ती थी इसलिए कि ब्रेक के बाद जो डोर टूटती थी वह किसी–न–किसी क्षेत्र की अटूट डोर से या टूटी हुई डोर से जुड़ जाया करती थी, अब ऐसा नहीं होता। टूटी हुई डोर की संवेदनशीलता धीरे–धीरे पड़ी रहकर निर्जीव हो जाती है। 'ब्रेक' स्थायी टूटन का पर्याय हो गया। पहले इसका पर्याय जुड़ाव हुआ करता था।

आज 'ब्रेक' जीवन का नियामक बन गया। सड़क पर चल रहे हैं, जिंदगी सड़क पर दौड़ती गाड़ियों के ब्रेक पर टिकी है। ब्रेक नहीं लगे या फेल हो गए तो जीवन ही चला जाता है। 'ब्रेक' बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए। वे नियंत्रण रखने के लिए बनाए गए ताकि गति अनियंत्रित न हो मगर अक्सर ऐसा होने लगा कि वे गति ही भंग कर देते हैं, या उसकी लय तोड़ देते हैं। ब्रेक लगाने वालों के पाँव यदि स्वयं अनियंत्रित हो जाएँ तो यही होता है।

यह छोटा–सा ब्रेक बड़ा बाजारवादी है। यह चाहता है कि बाजार से ज़्यादा पूँजी अर्जित कर ले। यह पूंजी खुद के हित के लिए हो, उसमें किसी दूसरे की हिस्सेदारी न हो। उसकी यह चाहत विकास की लय को भंग करती है और गति की निरन्तरता को तोड़ती है। आज की और आने वाले समय की यही सबसे बड़ी चुनौती है कि इस छोटे–से ब्रेक को कैसे नियंत्रित किया जाए ? यह नियंत्रण संभव है। 'ब्रेक' का मनमानापन तब रुक पाएगा जब हमारी मनमानी पर अंकुश लगेगा। हरेक अपने आपको नियंत्रित कर ले तो यह संभव है। 'ब्रेक' की मनमानी और हमारी अपनी मनमानी दोनों एक–दूसरे पर आश्रित हैं। हमारा अहं, दूसरों के अहित की कीमत पर अपने हित–साधन का प्रयत्न, बिना कर्म किए मनचाहे फल की आकांक्षा, और शॉर्ट कट से शिखर तक पहुँचने की अभिलाषा जब तक नियंत्रित नहीं होगी इन 'ब्रेक' की मनमानी रुकेगी नहीं। यदि यह नियंत्रण साध लिया गया तो फिर ऐसे ब्रेक अपनी मनमानी पूर्ण करने के लिए क्षेत्र नहीं तलाश पाएँगे।

आज ब्रेक तो हैं ही, स्पीड ब्रेकर भी हैं। ये इसलिए सड़कों पर निर्मित किए गए कि यदि गाड़ी की रफ्तार तेज़ हो तो चालक को वे नियंत्रित कर दें। ये स्पीड ब्रेकर हर सड़क पर अलग–अलग स्वरूपों में निर्मित कर दिये गए हैं, इनकी पहचान भी पर्याप्त संकेतों के अभाव में नहीं हो पाती और परिणाम यह होता है कि वाहन दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है। गति को नियंत्रित रखना है तो स्पीड ब्रेकर के शिल्प पर ध्यान देना होगा, उनमें समरूपता रहे, वे चालक के द्वारा पहचाने जा सकें यह व्यवस्था करनी होगी। इस व्यवस्था के अभाव में दुर्घटनाएँ होती हैं, गति नियंत्रित होने के बजाय भंग हो जाती है। ये स्पीड ब्रेकर पहले भी थे. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, बादरायण का ब्रह्मसूत्र, और वात्स्यायन के कामसूत्र के रूप में स्पीड ब्रेकर बने थे जो मानव की जीवन शैली की गत्यात्मकता को लय में बाँध देते थे। ये अलग–अलग मार्गों पर लगे थे लेकिन आकस्मिक दुर्घटनाओं से बचाते थे और समाज को ऐसी रागात्मकता में बाँधे रखते थे कि वह टूटता नहीं था, यदि टूटता भी था तो फिर जुड़ जाता था, आगे बढ़ता था, विकसित होता था। इनमें इतनी उदारता भी थी कि ये कट्टरता और जड़ता का विरोध करते थे, विचारों की स्वतंत्रता का स्वागत करते थे, नए निर्माणों का अभिनन्दन करते थे। समय के साथ–साथ हमारे जीवन की अनियंत्रित गति ने इनसे और इनसे जन्मे और जुड़े विचारों से अपना तादात्म्य तोड़ लिया। बदलते समय के वैज्ञानिक सोच की ओर उन्मुख तो कर दिया मगर वह पूरी तरह आत्मसात् नहीं हो पाया।

पुराने होने के नाम पर बिना इस पुराने को पहचाने, खारिज कर दिया या अपनाया भी तो उसे जो इसकी आत्मा नहीं आवरण था। नए के नाम पर जिसे अपनाया उसकी भी बाहरी पहचान की, इसका परिणाम यह है कि परसाई के शब्दों में हम कान में जनेऊ पहनकर केक काट रहे हैं।

आज जो विभाजन की तीव्रता है उसे तो रोका नहीं जा सकता लेकिन इतना ज़रूर किया जा सकता है कि विभाजित हुए टुकड़ों को, जो बिखर जाते हैं उनमें कम–से–कम यह भाव तो विद्यमान रहे कि वे जिससे टूटे हैं, उसका वे अंश हैं। टूट जाने पर अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व वे भले बना लें लेकिन यह दम्भ न पालें कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व उनका अपना बनाया है। वृक्ष की टहनियों का मूल अस्तित्व तो बीज में ही होता है। आज के समाज की मानसिकता में यह पैठना बेहद ज़रूरी है, अन्यथा भाषा और धर्म के नाम पर जो बिखराव होता जा रहा है, उसका अन्त शायद यही हो कि फिर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको एक स्वतंत्र और स्वयंभू सत्ता के रूप में स्थापित करने की चेष्टा करे या कोई विशिष्ट वर्ग इस राष्ट्र में ही एक अलग राष्ट्र की परिकल्पना करे।

विभाजन चाहे भीतर का हो या बाहर का वह सीख ही देता है। आज के परिदृश्य में यह आवश्यक हो गया है कि विभाजन की इस प्रक्रिया से यह ग्रहण किया जाए कि चाहे जो भाषा बोलें, चाहे जहाँ रहें, चाहे जिस धर्म को मानें या ईश्वर ही को न मानें लेकिन यह भाव ज़रूर रखें कि यह राष्ट्र ही वह बीज है जिसकी हम पल्लवित शाखाएँ हैं। शाखाएँ फैलती रहेंगी, वे अपने वृक्ष से टूटकर धरती के किसी हैं दूसरे टुकड़े पर फिर उगकर वृक्ष भी बन

जाएँगी, अपने आपको स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में स्थापित भी कर लेंगी लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होगा कि वे बीज से जन्मी हैं, बीज से तो सिर्फ एक ही वृक्ष विकसित होता है।

धरा में समाए बीज का अंकुरित होना विकास की निरन्तरता का प्रतीक है और इस अंकुरण से पनपे वृक्ष की शाखा का अलग होकर यह मान लेना कि उसका इस बीज से कोई रिश्ता नहीं, 'एक छोटा सा ब्रेक' है।